कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

*

प्रमाण-मीमांसा

स्वोपज्ञवृत्तिसहिता, हिन्दी अनुवादयुक्ता च

:: अनुवादक ::

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल 'न्यायतीर्थ'

सन् १९७०]   卐   [मूल्य ~~७.५०~~

॥ ॐ अर्हम् ॥

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य विरचिता

स्वोपज्ञ वृत्ति सहिता

(हिन्दी अनुवाद-युक्ता च)

प्रमाण मीमांसा

-: अनुवादक :-

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल 'न्यायतीर्थ' ब्यावर

सन् १९७० मूल्य रु. [redacted]

प्रकाशक–
मंत्री पुस्तकप्रकाशन विभाग
श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पाथर्डी, अहमदनगर

प्रथमावृत्ति १०००
वीर सं. २४९६

–: मुद्रक :–
बदरीनारायण द्वारिकाप्रसाद शुक्ल
श्री सुधर्मा मुद्रणालय, पाथर्डी, अ'नगर

मूल्य पचीस रुपये सिर्फ

प्रकाशकीय

*

प्रस्तुत पुस्तक जैन जगत् के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य श्री हेमचन्द्र की बहुमूल्य कृति है, आकृत्या अतीव संक्षिप्त होने पर भी प्रकृत्या महतो महीयान् की उक्ति को चरितार्थ करने वाली है। निस्सन्देह कुशल आचार्य ने अपनी कुशलताकी पराकाष्ठा प्रस्तुत करदी है। प्रमाण-शास्त्र का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है, इसी लिये पाथर्डी परीक्षा बोर्ड की उच्चतम परीक्षा में यह निर्धारित है।

परीक्षाबोर्ड के संचालकों ने पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था बहुत पहले प्रारंभ कर दी थी, इससे प्रारंभिक ४ परीक्षाओंके परीक्षार्थियों के लिये पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो गई। किन्तु बोर्ड की उच्च परीक्षाओं के लिये निर्धारित ग्रन्थों का प्रकाशन बहुव्ययसाध्य होनेसे निजी प्रकाशन न हो सकने के कारण उन ग्रन्थों की दुर्लभता से प्रौढ परीक्षार्थी बहुत ही कठिनाई का अनुभव कर रहे थे।

बोर्ड के सदुपदेष्टा महाराज श्री १००८ बालब्रह्मचारी पंडितरत्न पूज्य श्री आनन्द-ऋषिजी महाराज सा. का चातुर्मास सन् १९६१ में आश्वी जिला अहमदनगर में हुवा था। उस चातुर्मासमें स्थानीय सेठजी दानवीर श्री केशरचन्दजी कचरदासजी बोरा ने संघसेवा का अन्तःकरण से लाभ लिया था। दर्शनार्थियों की अच्छी उपस्थिति होती थी, सभी के स्वागत का सम्पूर्ण प्रबन्ध सेठजीने उदात्त भावनासे किया था।

इस चातुर्मास में कोई विशिष्ट कार्य होना चाहिये, ऐसा उत्साह कुछ विद्यारसिक महानुभावों के अन्तः करण में प्रस्फुरित हुवा, पूज्य महाराज श्री के समक्ष यह शुभ भावना व्यक्त की गई, तब महाराज श्री ने पाथर्डी बोर्ड के प्रौढ परीक्षार्थियों की कठिनाई को दूर करने की ओर इन ज्ञान प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप बोर्डचालकों से परामर्श करकें 'उच्च परीक्षा पाठ्यपुस्तक प्रकाशन विभाग' इस नामसे बोर्ड के अन्दर एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी विभाग नियत किया गया। इस विभाग में कुछ ही दिनों में दाताओं की उदारता से अच्छा सहयोग मिला और पहले दर्शनग्रन्थों के प्रकाशन का निश्चय किया गया।

उक्त विभाग की तरफ से सर्वप्रथम महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म० की जैन तर्क-भाषा (हिन्दी अनुवाद सहित) का प्रकाशन किया गया। यह अनुवाद सुप्रसिद्ध विद्वान् पं०

शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने तैयार किया था और पं० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री देहली ने परिशिष्ट रूप में कठिन स्थलों पर टिप्पण लिख कर उसे और सरलता प्रदान कर दी थी। उस प्रकाशन से छात्रों की अच्छी सुविधा देख कर पं० भारिल्लजी से ही प्रमाणमीमांसा के हिन्दी अनुवाद के लिये आग्रह किया गया। पंडितजीने कुछ ही दिनों में इस अनुवाद को भी तैयार कर दिया। जब छात्रों को यह मालूम हुवा कि प्रमाणमीमांसा हिन्दी-अनुवाद के साथ पाथर्डी से प्रकाशित हो रही है, तब लगभग ५० प्रतियों के लिए आर्डर पुस्तक पूर्ण होने से बहुत पहले ही प्रकाशन विभाग को प्राप्त हो गये। इस लिये हमारा उत्साह और बढ़ गया। अब तीसरे प्रकाशन के लिये पुस्तक का चयन शीघ्र ही कर के हम यथासंभव उसे भी अविलम्ब प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे। प्रकाशनविभाग इन कठिनतम ग्रन्थों के अध्ययन में सुविधा के लिये शास्त्री और आचार्य परीक्षा के पाठ्य ग्रन्थों का सहायक ग्रन्थ दो जिल्दों में प्रकाशित करने का विचार कर रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन दाताओं का आर्थिक सहयोग उपयुक्त हुवा है, उनकी शुभ नामावलि इस प्रकार है—

६२१)	श्री केशरचन्दजी कचरदासजी बोरा	आश्वी
५०१)	,, चन्द्रभानजी रूपचन्दजी डाकलिया	श्रीरामपुर
५०२)	,, तिलोकचन्दजी खूपचन्दजी गुन्देचा	चाँदा
५०१)	,, केशरचन्दजी गुलाबचन्दजी मुणोत	नेवासा
५००)	,, कचरदासजी मोहनलालजी लोढा	अहमदनगर
५०१)	,, भागचन्दजी शोभाचंदजी दूगड	अमलनेर
५०१)	,, रूपचन्दजी माणकचंदजी नाहर	रांजनगाँव
५००)	,, भैरूलालजी दीपचन्दजी गाँधी	लोनावला
३५२)	,, फकीरचन्दजी बालारामजी गुगलिया	चिंचोडी-शिराल
२५१)	,, कचरदासजी हिम्मतमलजी भलगट	अहमदनगर
२०१)	,, कुंदनमलजी लुंकड़ की सुपुत्री सायरबाई	बेंगलोर
२०१)	,, कल्याणजी भाई कपूरचन्दजी शाह	बंबई
२०१)	,, सकल जैन श्री संघ	आश्वी
१५१)	,, जसराज कालाभाई लाठिया	मूर्तिजापुर
१५१)	,, नेमीचन्दजी जवाहरलालजी लोढ़ा	सिंधनूर
१५१)	,, छोटमलजी नेमीचन्दजी	लोहसर-खांडगांव
१५१)	,, इचरजबाई झुंबरलालजी गुगले	अन्धेरी

प्रस्तुत प्रकाशन पर पं. दलसुख मालवणियाजी ने प्रास्ताविक लिखने की कृपा की एतदर्थ वे शतशः धन्यवाद के पात्र हैं, जिन दाताओं के आर्थिक सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित की गई है उनका हृदय से आभार मानते हैं।

बदरीनारायण शुक्ल

प्रास्ताविक

जैन दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण तत्त्वार्थसूत्र से प्रारंभ होता है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना में आगमिक परंपरा को व्यवस्थित करने का सर्वप्रथम प्रयत्न हुआ। नतीजा यह हुआ कि उसमें आगमगत सभी विषयों का सक्षेप में निरूपण हुआ। तत्त्वार्थसूत्र की कई टीकाएँ हुई और उसके बाद कई जैनदर्शन के नये ग्रन्थ भी बने किन्तु समय के अनुसार निरूपण के विषयों में परिवर्तन होता रहा। तत्त्वार्थसूत्र में निरूपित कई विषयों को छोड़ दिया गया और कई आवश्यक नई चर्चाओं का प्रवेश भी हुआ।

प्रमेयप्रधान निरूपण प्राचीनकाल में था, उसका स्थान प्रमाणप्रधान निरूपण ने लिया। यह परिवर्तन खास कर बौद्धों के प्रमाणसमुच्चय जैसे ग्रन्थों के कारण हुआ। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रगत कई विषयों को छोड़ दिया गया और प्रमाण के विषयरूप में प्रमेय की चर्चा होने लगी, और वह भी तत्त्वार्थ की तरह प्रमेयों की गणना करके नहीं, किन्तु प्रमेय के स्वरूप की ही चर्चा पर्याप्त समझी गयी। इसी परंपरा में न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, परीक्षामुख, प्रमाणनयतत्त्वालोक आदि ग्रन्थ बने। प्रमाणमीमांसा भी इसी परंपरा की एक कडी है। आगे चलकर न्यायदीपिका, जैनतर्कभाषा जैसे ग्रन्थ बने।

मध्यकाल में विस्तृत ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति बढी है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र की श्लोकवार्तिक जैसी विस्तृत टीका बनी, प्रमाणनयतत्त्वालोक का स्याद्वादरत्नाकर जैसी सुविस्तृत और परीक्षामुख की प्रमेयकमलमार्तंड जैसी अति विस्तृत टीकाएँ बनीं, नतीजा यह हुआ कि प्रवेशार्थी के लिए कठिनाई उपस्थित हुई। इसी कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, रत्नाकरावतारिका जैसे ग्रन्थ बनने शुरु हुए। इसी दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा की रचना की। मूल सूत्रों को स्वोपज्ञवृत्ति से अलंकृत करके इसका निर्माण हुआ है। दुर्भाग्य से इसके पांचों अध्याय मिलते नहीं, प्रारंभ के डेढ़ अध्याय जितना ही अंश मिलता है। किन्तु जितना अंश मिलता है वह भी जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा को संक्षेप में जानने का अच्छा साधन है इस में संदेह नहीं।

प्रमाणमीमांसा कई युनिवर्सिटियों में और जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड में पाठ्यग्रन्थ रूप से स्वीकृत है, यही प्रमाण है कि वह जैन दर्शन के लिए एक अच्छी पाठ्यपुस्तक है। उसके कई संस्करण भी हुए हैं। पू. पं. सुखलालजी ने उसके अपने संपादन में तुलनात्मक टिप्पण भी

लिखे और विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, किन्तु वह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं होता । टिप्पणों का अंग्रेजी होकर वे पृथक् पुस्तकरूप में उपलब्ध हैं ।

अब पू. पं. शोभाचंद्रजी भारिल्लद्वारा प्रमाणमीमांसा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो रही है, यह आनन्द का विषय है । इसके पढ़ने वालों के लिए प्रमाणमीमांसा ग्रन्थ सुगम हो जायगा इसमें संदेह नहीं है । पंडितजी की हिन्दी सरस तो है ही, साथ सुबोध भी है और आचार्य हेमचन्द्र की प्रसन्न गंभीर भाषा के अनुरूप भी है । पंडितजी ने यह अनुवाद करके जिज्ञासुओं का मार्ग सरल किया है, अतएव वे सबके धन्यवाद के पात्र हैं ।

हम आशा करते हैं कि पंडितजी आगे भी कठिन दार्शनिक ग्रन्थ के सुगम अनुवाद हमें देते रहेंगे और जिज्ञासुओं का दर्शन में प्रवेश सुलभ बना देंगे ।

अहमदाबाद
१३–७–७०

दलसुख मालवणिया

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

(स्वोपज्ञवृत्तिसहिता)

॥ प्र मा ण मी मां सा ॥

अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दमयात्मने ।
नमोऽर्हते कृपाक्लृप्तधर्मतीर्थाय तायिने ॥१॥
बोधिबीजमुपस्कर्तुं तत्त्वाभ्यासेन धीमताम् ।
जैनसिद्धान्तसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥२॥

१ ननु यदि भवदीयानीमानि जैनसिद्धान्तसूत्राणि, तर्हि भवतः पूर्वं कानि किमीयानि वा तान्यासन्निति ? अत्यल्पमिदमन्वयुङ्क्थाः । पाणिनि-पिंगल-कणादाऽक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येदपि पर्यनुयुङ्क्ष्व !

(हिन्दी अनुवाद)

अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य,और अनन्त आनन्दमय स्वरूपवाले,जगत् के जीवों पर कृपा करके धर्मतीर्थ की रचना करनेवाले और प्राणीमात्र के लिए सन्मार्ग के उपदेशक अर्हन्त भगवान् को नमस्कार हो ॥ १ ॥

तत्त्व (वस्तु के यथार्थ स्वरूप) के अभ्यास द्वारा बुद्धिमानों के बोधबीजसम्यक्त्व का उपस्कार करने के उद्देश्य से स्वरचित जैनसिद्धान्तसूत्रों की अर्थात् जैनदर्शनसम्मत तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले सूत्रों की टीका का निर्माण किया जाता है ॥ २ ॥

१—शंका-जिन सूत्रों की वृत्ति-टीका-का आप निर्माण कर रहे हैं, वे सूत्र यदि आपके हैं तो आपसे पूर्व कौन से सूत्र थे ? और वे किनके थे ?

समाधान—आपने अत्यन्त अल्प-संकीर्ण शंका उपस्थित की है । आपको यह भी तो पूछना चाहिए था कि पाणिनि से पहले व्याकरण के सूत्र, पिंगल से पहले पिंगलशास्त्र के सूत्र, कणाद से पहले वैशेषिकदर्शन के सूत्र कौन से थे ? और वे किनके थे ?

अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किं नाश्रौषीः 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति ? यदि वा प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्रचूडामणिभूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति।

२ यद्येवम्-अकलङ्क-धर्मकीर्त्यादिवत् प्रकरणमेव किं नारभ्यते, किमनया सूत्रकारत्वाहोपुरुषिकया ? मैवं वोचः, भिन्नरुचिर्ह्ययं जनः, ततो नास्य स्वेच्छाप्रतिबन्धे लौकिकं राजकीयं वा शासनमस्तीति यत्किञ्चिदेतत्।

३ तत्र वर्णसमूहात्मकैः पदैः, पदसमूहात्मकैः सूत्रैः, सूत्रसमूहात्मकैः प्रकरणैः, प्रकरणसमूहात्मकैः आह्निकैः, आह्निकसमूहात्मकैः पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः। तस्य च प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यंगमभिधेयमभिधातुमिदमादिसूत्रम्–

वास्तव में ये सब विद्याएँ अनादिकालीन हैं। किन्तु कोई उनका संक्षेप विस्तार से प्रतिपादन करता है। इस संक्षेप-विस्तार के कारण वे नवीन-नवीन रूप धारण करती रहती हैं। जो उनका संक्षेप अथवा विस्तार से निरूपण करता है, वही उनका 'कर्त्ता' कहलाने लगता है। क्या आपने यह नहीं सुना कि 'जगत् कभी ऐसा नहीं था', यह बात नहीं है। अर्थात् जगत् तो अपने मूल रूप में सदैव वैसा का वैसा ही रहता है। फिर भी यदि आपको देखना है कि मुझसे पूर्व जैन सिद्धान्त के सूत्र कौन-से थे, तो वाचकमुख्य उमास्वातिद्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र देख लीजिए। वे सूत्र समस्त शास्त्रों में चूडामणि के समान उत्तम हैं।

२–शंका–यदि आपसे पहले वाचक उमास्वातिद्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र विद्यमान हैं, तो आप 'सूत्रकार' बनने का गौरव क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? अकलंक और धर्मकीर्त्ति आदि की भाँति प्रकरण-ग्रन्थ की ही रचना क्यों नहीं करते ?

समाधान–ऐसा मत कहिए। जन-जन की रुचि में भिन्नता होती है, अतएव उसकी स्वेच्छा को रोकने के लिए न तो कोई लौकिक प्रतिबन्ध है, न राजकीय शासन है, अर्थात् विभिन्न ग्रन्थकार बिना किसी रुकावट के अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार सूत्र, वृत्ति या प्रकरणादि ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। अतएव आपके कथन में कुछ सार नहीं है।

३–वर्णों का समूह पद कहलाता है, पदों का समूह सूत्र, सूत्रों का समूह प्रकरण (विभाग विशेष), प्रकरणों का समूह आह्निक और आह्निकों का समूह अध्याय कहलाता है। आचार्य ने पाँच अध्यायों में इस शास्त्र की रचना की है।

बुद्धिमान् पुरुष किसी भी ग्रन्थ के पठन-पाठन में तब ही प्रवृत्त होते हैं, जब उसके अभिधेय-विषय की जानकारी प्राप्त कर लें। अतएव प्रथम सूत्र में प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रेक्षाकारिक पुरुषों की प्रवृत्ति का अंग–प्रतिपाद्य विषय बतलाया जाता है।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

४ अथ-इत्यस्य अधिकारार्थत्वाच्छास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य प्रमाणस्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यव्याख्यानेन प्रेक्षावन्तो बोधिताः प्रवर्तिताश्च भवंति। आनन्तर्यार्थो वा अथ-शब्दः, शब्द-काव्य-छन्दोनुशासनेभ्योऽनन्तरं प्रमाणं मीमांस्यत इत्यर्थः। अनेन शब्दानुशासनादिभिरस्यैककर्तृकत्वमाह। अधिकारार्थस्य च अथ शब्दस्यान्यार्थनीयमानकुसुमदामजलकुम्भादेर्दर्शनमिव श्रवणं मंगलायापि कल्पत इति। मंगले च सति परिपन्थिविघातात् अक्षेपेण शास्त्रसिद्धिः,आयुष्मच्छ्रोतृकता च भवति। परमेष्ठिनमस्कारादिकं तु मङ्गलं कृतमपि न निवेशितं लाघवार्थिना सूत्रकारेणेति।

५ प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्, तस्य मीमांसा—उद्देशादिरूपेण पर्यालोचनम्। त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा च।

अब प्रमाण की मीमांसा की जाती है ॥१॥

४—सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द अधिकार अर्थ का वाचक है। इस शास्त्र में प्रमाण का अधिकार है। प्रमाण की मीमांसा यहाँ प्रस्तुत है। यहाँ 'प्रमाण' शब्द के प्रयोग से सम्पूर्ण शास्त्र के तात्पर्य (प्रयोजन) का व्याख्यान हो जाता है। इससे बुद्धिमानों को उसका बोध हो जाता है और वे उसमें प्रवृत्ति करने लगते हैं।

अथवा 'अथ' शब्द यहाँ आनन्तर्य अर्थ का वाचक है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि शब्दानुशासन, काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन के अनन्तर अब प्रमाण की मीमांसा की जाती है। इस कथन से यह भी सूचित हो गया कि शब्दानुशासन आदि के कर्त्ता—आचार्य हेमचन्द्र ही प्रस्तुत ग्रन्थ के भी कर्ता हैं।

अधिकारार्थक 'अथ' शब्द का श्रवण, दूसरे के निमित्त ले जाए जाते पुष्पदाम और सजल घट आदि को देखने के समान मांगलिक माना जाता है।

'मंगल'की विद्यमानता में प्रतिबन्धक विघ्नों का विघात हो जाता है और उससे अविलम्ब शास्त्र की सिद्धि हो जाती है। उस शास्त्र के श्रोताओं को चिरकालीन आयुष्य की प्राप्ति होती है।

सूत्रकार ने परमेष्ठी-नमस्काररूप मंगल क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि किया तो है किन्तु उसे शब्दबद्ध नहीं किया है, क्यों कि वे ग्रन्थ को संक्षिप्त ही रखना चाहते हैं।

५—'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्ग और 'माङ्' धातु से बना है। यहाँ 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है-प्रकर्ष और प्रकर्ष का तात्पर्य है संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का अभाव। अभिप्राय यह निकला कि जिसके द्वारा संशयादि का व्यवच्छेद करके वस्तुतत्त्व जाना जाय वह 'प्रमाण' है। प्रमाण प्रमिति अर्थात् ज्ञप्ति में साधकतम—करण होता है।

उद्देश आदि के द्वारा किसी वस्तु का विचार करना 'मीमांसा' है। शास्त्र की प्रवृत्ति तीन तरह की होती है—(१) उद्देश (२) लक्षण (३) परीक्षा।

तत्र नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देशः, यथा इदमेव सूत्रम् । उद्दिष्टस्यासाधारणधर्म्मवचनं लक्षणम् । तद् द्वेधा, सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च । सामान्यलक्षणमनन्तरमेव सूत्रम् । विशेषलक्षणम् "विशदः प्रत्यक्षम्" [१. १. १३] इति । विभागस्तु विशेषलक्षणस्यैवा- ङ्गमिति न पृथगुच्यते । लक्षितस्य 'इदमित्थं भवति नेत्थम्' इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा, यथा तृतीयं सूत्रम् ।

६ पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः । तेन न प्रमाणमात्रस्यैव विचारोऽत्राधि- कृतः, किन्तु तदेकदेशभूतानां दुर्नयनिराकरणद्वारेण परिशोधितमार्गाणां नयानाममपि "प्रमाणनयैरधिगमः" [तत्त्वा० १. ६] इति हि वाचकमुख्यः, सकलपुरुषार्थेषु मूर्द्धाभिषि- क्तस्य सोपायस्य सप्रतिपक्षस्य मोक्षस्य च । एवं हि पूजितो विचारो भवति ।

किसी वस्तु के सिर्फ नाम का उल्लेख करना उद्देश है, जैसे प्रकृत सूत्र-'अथ प्रमाण मीमांसा' । यहाँ प्रमाण के नाममात्र का ही उल्लेख है ।

जिसका उद्देश किया गया है, अर्थात् जिसके नाम का उल्लेखमात्र किया गया है, उसके असाधारण धर्म का—ऐसे विशिष्ट धर्म का कि जो उसके अतिरिक्त अन्यत्र न मिलसके—कथन करना लक्षण कहलाता है ।

लक्षण दो प्रकार के हैं—सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण । सामान्य लक्षण का उदा- हरण अगला—दूसरा सूत्र है, जिसमें सामान्य रूप से प्रमाण का स्वरूप बतलाया है । विशेष का उदाहरण—'विशदः प्रत्यक्षम्' अर्थात् विशद ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । 'प्रत्यक्ष' विशेष प्रमाण है । और उसका इस सूत्र में लक्षण बतलाया गया है ।

विभाग अर्थात् भेद, विशेष लक्षण का ही अंग है । विशेष लक्षणों से ही भेद का पता चल जाता है । अतएव उसे अलग नहीं कहा है ।

लक्षण का कथन करने के पश्चात् उस वस्तु का युक्तिपूर्वक परीक्षण किया जाता है । 'यह ऐसा है अथवा नहीं है' ऐसा विचार करना परीक्षा है । इस ग्रंथ का तीसरा सूत्र परीक्षा का उदाहरण है ।

'मीमांसा का अर्थ है पूजित (प्रशस्त) विचार और पूजित वचन । मीमांसा शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि इस ग्रन्थ में केवल प्रमाण का ही विचार प्रस्तुत नहीं है, किन्तु प्रमाण के एक अंशभूत तथा दुर्नय का निराकरण करके प्रमाण के मार्ग का परिशोधन करनेवाले नयों का भी विचार किया जाएगा । वाचक उमास्वाति ने कहा है—' प्रमाणनयैरधि- गमः' अर्थात् प्रमाणों और नयों से ही तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होता है ।

प्रमाण एवं नय के अतिरिक्त यहाँ सब पुरुषार्थों में श्रेष्ठ मोक्ष का भी विचार किया जाएगा, मोक्ष के उपायों का अर्थात् संवर एवं निर्जरा तत्त्व का तथा उनके विरोधी—आस्रव तथा बन्ध आदि का भी विचार किया जाएगा । इन सब का विचार करना ही पूजित विचार है ।

प्रमाणमात्रविचारस्तु प्रतिपक्षनिराकरणपर्यवसायी वाक्कलहमात्रं स्यात्। तद्विवक्षायां तु"अथ प्रमाणपरीक्षा"[प्रमाणपरी० पृष्ठ० १] इत्येव क्रियेत। तत् स्थितमेतत्-प्रमाणपरिशोधितप्रमेयमार्गं सोपायं सप्रतिपक्षं मोक्षं विवक्षितुं मीमांसाग्रहणमकार्याचार्येणेति।१।

७ तत्र प्रमाणसामान्यलक्षणमाह–

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥२॥

८'प्रमाणम्' इति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्,प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः। यत्तदविवादेन प्रमाणमिति धर्म्मि प्रसिद्धं तस्य सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वं धर्मो विधीयते। अत्र प्रमाणत्वादिति हेतुः, न च धर्मिणो हेतुत्वमनुपपन्नम्; भवति हि विशेषे धर्म्मिणि तत्सामान्यं हेतुः, यथा अयं धूमः साग्निः,धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत्। न च दृष्टान्तमन्तरेण न गमकत्वम्; अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धेः, 'सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिवदिति दर्शयिष्यते।

सिर्फ प्रमाण का विचार करना प्रतिपक्ष का निराकरण करने में ही पर्यवसित होता है और वह एक प्रकार से वाक्कलह मात्र हो है। यदि सिर्फ प्रमाण का ही निरूपण करना अभीष्ट होता तो सूत्र की रचना यों की होती–'अथ प्रमाण परीक्षा।' अतएव यह निश्चित है कि प्रमाण और नय के द्वारा जिसका मार्ग-अनेकान्तमयस्वरूप-परिशोधित किया गया है ऐसे मोक्ष का भी उसके उपायों और विरोधी तत्त्वों के साथ कथन करने के अभिप्राय से ही 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग किया है॥ १॥

प्रमाणसामान्य का स्वरूप

–अर्थ–पदार्थ का सम्यक् निश्चय प्रमाण कहलाता है॥ २॥

८–सूत्र में 'प्रमाण' पद लक्ष्य है और 'सम्यगर्थनिर्णयः' यह प्रमाण का लक्षण है। प्रसिद्ध वस्तु का अनुवाद करके अप्रसिद्ध का विधान करना लक्षण का प्रतिपादन करना कहलाता है। यहाँ सामान्यरूप से 'प्रमाण' सभी को प्रसिद्ध है। अर्थात् प्रमाण का लक्षण कोई कुछ भी माने तथापि प्रमाण-सामान्य तो प्रत्येक वादी को मान्य ही है। (अतएव इस सूत्र में 'प्रमाण' शब्द का उल्लेख प्रसिद्ध का अनुवाद है) उसमें सम्यगर्थनिर्णायकत्व' धर्म का-जो प्रतिवादी को प्रसिद्ध नहीं है-विधान किया गया है। यहाँ हेतु 'प्रमाणत्व' है। अतएव अनुमान का रूप इस प्रकार होगा–प्रमाण सम्यगर्थनिर्णयात्मक है, क्योंकि वह प्रमाण है।

कहा जा सकता है कि प्रकृत अनुमान में पक्ष को ही हेतु बनाया गया है, सो उचित नहीं है। किन्तु इसमें कोई अनौचित्य नहीं समझना चाहिए। वास्तव में यहाँ प्रमाणविशेष पक्ष है और प्रमाणसामान्य हेतु है, जैसे यह धूम अग्निसहित है, क्योंकि धूम है, जैसे पूर्वोपलब्ध धूम। जिस प्रकार यहाँ विशिष्ट (विवादग्रस्त) धूम पक्ष है और सामान्य धूम हेतु है, उसी प्रकार प्रकृत अनुमान में भी समझ लेना चाहिए।

दृष्टांत के बिना हेतु गमक नहीं हो सकता, ऐसी बात भी नहीं है। अन्तर्व्याप्ति से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। 'जीता हुआ शरीर आत्मवान् है क्योंकि वह प्राणादि से युक्त है' इस

९ तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम्। ततो निर्णयपदेनाज्ञानरूपस्येन्द्रियसन्निकर्षादेः, ज्ञानरूपस्यापि संशयादेः प्रमाणत्वनिषेधः।

१० अर्यतेऽर्थ्यते वा अर्थो हेयोपादेयोपेक्षणीयलक्षणः, हेयस्य हातुम्, उपादेयस्योपादातुम्, उपेक्षणीयस्योपेक्षितुमर्थ्यमानत्वात्। न चानुपादेयत्वादुपेक्षणीयो हेय एवान्तर्भवति; अहेयत्वादुपादेय एवान्तर्भावप्रसक्तेः। उपेक्षणीय एव च मूर्द्धाभिषिक्तोऽर्थः, योगिभिस्तस्यैवार्यमाणत्वात्। अस्मदादीनामपि हेयोपादेयाभ्यां भूयानेवोपेक्षणीयोऽर्थः; तन्नायमुपेक्षितुं क्षमः। अर्थस्य निर्णय इति कर्मणि षष्ठी, निर्णीयमानत्वेन व्याप्यत्वादर्थस्य। अर्थग्रहणं च स्वनिर्णयव्यवच्छेदार्थं तस्य सतोऽप्यलक्षणत्वादिति वक्ष्यामः।

अनुमान में कोई उदाहरण न होने से बहिर्व्याप्ति-उदाहरण नहीं है, फिर भी हेतु अन्तर्व्याप्ति के सामर्थ्य से गमक है, इसी प्रकार 'प्रमाणत्व' हेतु भी गमक है। इस पर आगे विचार करेंगे।

९-संशय, अनध्यवसाय और निर्विकल्पकत्व[१] से रहित ज्ञान निर्णय (निश्चयात्मक ज्ञान) कहलाता है। अतएव प्रमाण के लक्षण में स्वीकृत 'निर्णय' शब्द से अज्ञानरूप इन्द्रियसन्निकर्ष[२] की तथा अनिश्चित ज्ञानरूप संशय आदि की प्रमाणता का निषेध किया गया है।

१०-प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिसकी चाह की जाती है, वह 'अर्थ' कहलाता है।

अर्थ तीन प्रकार का है--(१) हेय-त्यागने योग्य (२) उपादेय-ग्रहण करने योग्य और (३) उपेक्षणीय-उपेक्षा करने योग्य। हेय पदार्थ को त्यागने की, उपादेय को ग्रहण करने की और उपेक्षणीय पर उपेक्षा करने की इच्छा की जाती है।

किसी-किसी का कहना है कि उपेक्षणीय पदार्थ उपादेय न होने के कारण हेय के ही अन्तर्गत है, किन्तु यह कथन युक्त नहीं। वह हेय भी न होने से उपादेय के अन्तर्गत क्यों न माना जाय? वस्तुतः न हेय और न उपादेय होने के कारण उपेक्षणीय पदार्थ भिन्न ही है। उपेक्षणीय पदार्थ ही प्रमुख है, क्योंकि योगी जन उसकी ही अभ्यर्थना-चाह करते हैं। हमारे लिये भी हेय और उपादेय पदार्थ तो कम हैं, मगर उपेक्षणीय पदार्थ ही अधिक हैं। अतएव उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा करना उचित नहीं है अर्थात् उसे हेय की कोटि में सम्मिलित नहीं करना चाहिये।

हेय, उपादेय और उपेक्षणीय अर्थ का निर्णय 'अर्थनिर्णय' कहलाता है। यहाँ 'कर्म' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, क्योंकि अर्थ का व्याप्य कर्म है। सूत्र में 'अर्थ' शब्द का ग्रहण स्वनिर्णय का निराकरण करने के लिए है। यद्यपि प्रमाण स्वनिर्णायक होता है, तथापि वह प्रमाण का लक्षण नहीं है, इसे आगे कहेंगे।

१- नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित सत्तामात्र का ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है।

२- इन्द्रिय और ग्राह्य विषय का सम्बन्ध।

११ सम्यग्-इत्यविपरीतार्थमव्ययं समञ्चतेर्वा रूपम् । तच्च निर्णयस्य विशेषणम् तस्यैव सम्यक्त्वाऽसम्यक्त्वयोगेन विशेष्टुमुचितत्वात्; अर्थस्तु स्वतो न सम्यग् नाप्यसम्यगिति सम्भवव्यभिचारयोरभावान्न विशेषणीयः । तेन सम्यग् योऽर्थनिर्णय इति विशेषणाद्विपर्ययनिरासः । ततोऽतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवदोषविकलमिदं प्रमाण–सामान्यलक्षणम् ॥२॥

१२ ननु अर्थनिर्णयवत् स्वनिर्णयोऽपि वृद्धैः प्रमाणलक्षणत्वेनोक्तः-"प्रमाणं स्वपराभासि" (न्यायाव० १) इति, "स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" (तत्त्वार्थश्लोकवा० १. १०. ७७.) इति च । न चासावसन्, 'घटमहं जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवत् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति । न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावनम्, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् ।

'सम्यक्' यह एक अव्यय है । जिसका अर्थ है—सही अर्थात् विपरीत नहीं । अथवा 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अंचु' धातु से सम्यक्' शब्द बना है । 'सम्यक्' पद निर्णय का विशेषण है, क्योंकि निर्णय ही सम्यक् अथवा असम्यक् हो सकता है । पदार्थ स्वयं न सम्यक् होता है न असम्यक्, अतएव उसमें (अर्थ में) सम्यक् विशेषण लगाने का कोई औचित्य नहीं है । जहाँ संभव या व्यभिचार हो वहीं विशेषण लगाना सार्थक होता है । अतएव पदार्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण कहते हैं, ऐसा अर्थ समझना चाहिए । इस विशेषण से विपर्यय ज्ञान की प्रमाणता का निषेध किया गया है । तात्पर्य यह है कि 'निर्णय' पद से संशय, अनध्यवसाय और निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का निषेध किया गया है, मगर विपर्यय ज्ञान की प्रमाणता का निषेध उससे नहीं होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान निर्णयरूप होता है । अतएव उसका निषेध करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण का प्रयोग किया गया है । विपर्यय ज्ञान में भी निर्णय तो होता है परन्तु वह सम्यक् नहीं होता।

इस प्रकार प्रमाण का लक्षण [1]अतिव्याप्ति, [2]अव्याप्ति और [3]असंभव दोष से रहित है।।२।।

१२—शंका—प्राचीन आचार्यों ने अर्थनिर्णय के समान स्वनिर्णय को भी प्रमाण का लक्षण कहा है । जैसे—'प्रमाणं स्वपराभासि' अर्थात् स्व और पर को जानने वाला (ज्ञान) ही प्रमाण होता है । तथा 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।' अर्थात् जो ज्ञान अपने स्वरूप का और पदार्थ का यथार्थ रूप से निश्चय करता है, वह प्रमाण कहलाता है । यह कथन असत् भी नहीं है । 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार की प्रतीति में 'मैं' इस कर्त्ता और 'घट को' इस कर्म का जैसे बोध होता है, उसी प्रकार 'जानता हूँ' इस ज्ञप्तिक्रिया का अर्थात् ज्ञान का भी ज्ञान होता है । इसके अतिरिक्त जिसको ज्ञान का ज्ञान नहीं होता,उसे उस ज्ञान के द्वारा पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हो सकता । कदाचित् कहा जाय कि दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान जाना जाता है और प्रथम ज्ञान से पदार्थ जान लिया जाता है, तो यह ठीक नहीं । दूसरा ज्ञान भी यदि अज्ञात होगा तो वह प्रथम ज्ञान को नहीं जान सकेगा ।

१ लक्ष्य और उससे बाहर-अलक्ष्य में भी लक्षण का रहना । २ अधूरे लक्ष्य में लक्षण का रहना ।
३ लक्ष्य के एक अंश में भी लक्षण का न पाया जाना ।

उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था। अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः। एतेन 'अर्थस्य सम्भवो नोपपद्येत न चेत् ज्ञानं स्यात्' इत्यर्थापत्त्यापि तदुपलम्भः प्रत्युक्तः, तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञाने अनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेस्तदवस्थः परिभवः। तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वनिर्णयात्मकत्वमप्यस्ति। ननु अनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसंगः, मैवं वोचः; ज्ञातुः ज्ञातृत्वेनेव अनुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात्। न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः; अर्थापेक्षयानुभूतित्वात् स्वापेक्षयाऽनुभाव्यत्वात्, स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववत् विरोधाभावात्। न च स्वात्मनि क्रियाविरोधः, अनुभवसिद्धेऽर्थे

दूसरे ज्ञान को जानने के लिए यदि तीसरे ज्ञान की आवश्यकता मानी जाय तो ऐसा मानने से अनवस्था दोष हो जायगा। यदि प्रथम ज्ञान (अर्थ का ज्ञान) दूसरे (ज्ञान के ज्ञान) को और दूसरा प्रथम को जान लेता है ऐसी कल्पना की जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थात् स्वयं अज्ञात होने के कारण प्रथम ज्ञान दूसरे ज्ञान को नहीं जान सकता, इसी प्रकार दूसरा ज्ञान प्रथम ज्ञान को नहीं जान सकता। दोनों ही जब अज्ञात हैं और आपस में ही एक दूसरे को जान सकते हैं तो पहले कौन किसे जानेगा ?

"यदि ज्ञान न होता तो 'पदार्थ है' ऐसा व्यवहार न होता, परन्तु 'पदार्थ है ऐसा व्यवहार हो रहा है, अतएव मुझे ज्ञान हुआ है", इस प्रकार की अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान है; यह विचार भी योग्य नहीं है। अर्थापत्ति भी ज्ञापक है, अतएव जब तक वह स्वयं अज्ञात है तब तक ज्ञापक नहीं हो सकती। दूसरी अर्थापत्ति से पहली अर्थापत्ति का ज्ञान मानने पर पूर्ववत् अनवस्था और इतरेतराश्रय दोषों की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ज्ञान जैसे अर्थ की ओर उन्मुख होकर अर्थ को जानता है, उसी प्रकार स्व (ज्ञान) की ओर उन्मुख होकर स्व को भी जानता है। अतएव वह अर्थनिर्णायक की तरह स्वनिर्णायक भी है।

ज्ञान यदि अपने को जानता है तो ज्ञेय हो जायगा और ज्ञेय होने के कारण घट आदि के समान ज्ञान नहीं रहेगा। यह कहना युक्तिसंगत नहीं। ज्ञाता (अहंकर्त्ता) का जब ज्ञान होता है, तो वह भी ज्ञेय होता है। परन्तु ज्ञाता के रूप में ही वह ज्ञेय होता है, अतएव ज्ञेय होने पर भी उसके ज्ञातृत्व में कोई क्षति नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान जब अपने आपको जानता है तो वह अपना ज्ञेय बन जाता है, किन्तु ज्ञान रूप में ही वह ज्ञेय होता है, अतएव उसके ज्ञानत्व में कोई क्षति नहीं होती। ज्ञान ज्ञेय हो जाय, यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह अर्थ की अपेक्षा ज्ञान है और अपनी अपेक्षा से ज्ञेय होता है। एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र और पुत्र की अपेक्षा से पिता होता है-उसके पिता और पुत्र होने में कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार ज्ञान पदार्थ की अपेक्षा से ज्ञान और अपनी अपेक्षा से ज्ञेय होता है, इसमें भी कोई विरोध नहीं है।

जैसे तलवार अपने-आपको नहीं काट सकती, उसी प्रकार ज्ञान अपने को नहीं जान सकता, क्योंकि अपने-आपमें क्रिया का विरोध है ऐसा कहना उचित नहीं है। जो बात अनुभव से सिद्ध है,

विरोधासिद्धेः। अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः,तथा हि—ज्ञानं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत् । संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत्, न; अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः न च नेत्रादिभिरनैकान्तिकता,तेषां भावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात् । भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः यथा घटः । तथा-यत् ज्ञानं तत् आत्मबोधं प्रत्यनपेक्षितपरव्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भावि गोचरान्तरग्राहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्, ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानमिति ।

उसमें विरोध नहीं होसकता । अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान का स्वसंवेदन सिद्ध होता है । यथा—(१)ज्ञान स्वयं प्रकाशमान होता हुआ ही पदार्थ को प्रकाशित करता है,क्योंकि वह प्रकाशक है जो-जो प्रकाशक होते हैं वे स्वयं प्रकाशमान होते हुए ही पदार्थ को प्रकाशित करते हैं,जैसे दीपक। ज्ञान स्वसंवेदनशील होने से प्रकाश्य है-उसे प्रकाशक मानना असिद्ध है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, अज्ञान-संशय आदि का निवारण करने के कारण वह प्रकाशक है ।

कहा जा सकता है कि नेत्र स्वयं प्रकाशमान न होने पर भी पर-प्रकाशक होते हैं, अतएव आपका प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक है,किन्तु यह सत्य नहीं है, वास्तव में भावेन्द्रियाँ ही प्रकाशक होती हैं और वे स्वयंप्रकाशमान भी होती हैं ।

(२)ज्ञान स्वप्रकाशक है,क्योंकि अर्थ का प्रकाशक है । जो स्व-प्रकाशक नहीं होता,वह अर्थ-प्रकाशक भी नहीं होता, जैसे घट ।

(३) ज्ञान अपने-आपको जानने में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि जो ज्ञान होते हैं वे अपने जानने में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते हैं, जैसे विषयान्तर को ग्रहण करने वाले ज्ञान से पहले होने वाला विषयान्तरग्राही ज्ञान-प्रवाहका अन्तिम ज्ञान। रूपादि का ज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे जानने के लिए भी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती ।

तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को अभी घटका ज्ञान हो रहा है-घटज्ञान का प्रवाह चल रहा है । उपयोग बदला और पट वाला ज्ञान होने लगा । यहाँ विचारणीय यह है कि जब तक घटज्ञान का प्रवाह चल रहा था तब तक तो यह कहा जा सकता था कि उत्तर-उत्तर का घटज्ञान पूर्व-पूर्व के घटज्ञान को जानता है,किन्तु इसी प्रवाह के अन्तिमक्षणवर्त्ती घटज्ञान को कौन जानेगा ?स्मरण रखना चाहिए कि उसको पटज्ञान उत्पन्न हुआ है और पटज्ञान अपने पूर्ववर्ती घटज्ञान को नहीं जान सकता- वह तो पट को ही जानेगा । ऐसी स्थिति में मानना ही पडेगा कि वह घटज्ञान अपने को आप ही जानता है, तो जैसे घटज्ञान के प्रवाह का अन्तिम ज्ञान अपने को स्वयं जानता है, उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती घटज्ञान भी अपने को स्वयं ही जानते हैं ।

संवित् स्वप्रकाशे स्वावान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटवत् संवित् परप्रकाश्या वस्तुत्वात् घटवदिति चेत्, न; अस्याप्रयोजकत्वात्, न खलु घटस्य वस्तुत्वात् परप्रकाश्यता, अपि तु बुद्धिव्यतिरिक्तत्वात् । तस्मात् स्वनिर्णयो प्रमाणलक्षणमस्त्विवत्याशङ्क्याह–

स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥३॥

१३–सन्नपि–इति परोक्तमनुमोदते । अयमर्थः–न हि 'अस्ति' इत्येव सर्वं लक्षणत्वेन वाच्यं किन्तु यो धर्मो विपक्षाद्व्यावर्त्तते । स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्त्तते; नहि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम । ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदोषः ॥३॥

१४–ननु च परिच्छिन्नमर्थं परिच्छिन्दता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात् ।

---

(४) ज्ञान अपने प्रकाश में अपने अवान्तरजातीय-सजातीय ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह वस्तु है, जो जो वस्तु है वह वह अपने प्रकाश में अपने अवान्तर जातीय की अपेक्षा नहीं रखती, जैसे घट । अर्थात् जैसे घट को जानने के लिए दूसरे घट की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती ।

कदाचित् कोई कहे कि ज्ञान वस्तु होने के कारण घट की तरह पर-प्रकाश्य है, तो यह ठीक नहीं । घट वस्तु होने के कारण पर–प्रकाश्य नहीं है, किन्तु बुद्धिभिन्न-अज्ञानरूप होने से परप्रकाश्य है ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अर्थ के समान स्व का भी निर्णय करता है । अतः स्वनिर्णय को भी प्रमाण का लक्षण कहना चाहिए । इस शंका का समाधान करने के लिए आचार्य कहते हैं–

स्वनिर्णय इत्यादि । ज्ञान स्व का निश्चायक है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं है, क्योंकि स्वनिर्णय अप्रमाण में भी पाया जाता है ॥३॥

१३–ज्ञान स्व का निर्णायक है ऐसा कह कर प्राचीन आचार्यों के उक्त कथन का अनुमोदन किया गया है ।

अभिप्राय यह है–किसी वस्तुमें जो जो धर्म हैं उन सबको लक्षण रूपसे नहीं कहा जाता । लक्षण तो वही धर्म हो सकता है, जो उसे विपक्ष अर्थात् अलक्ष्य से भिन्न करता हो–जो धर्म असाधारण हो । कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जो स्वसंवेदी न हो, अर्थात् प्रमाणभूत ज्ञान भी स्वसंवेदी होता है और अप्रमाणभूत ज्ञान भी स्वसंवेदी होता है । इस कारण हमने स्वसंवेदन को प्रमाण का लक्षण नहीं कहा । वृद्ध आचार्यों ने परीक्षा के लिए उसे प्रमाण के लक्षण में सम्मिलित किया है ॥३॥

१४–शंका–जाने हुए पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान पिष्टपेषण ही करता है ।

तथा च गृहीतग्राहिणां धारावाहिज्ञानानामपि प्रामाण्यप्रसंगः। ततोऽपूर्वार्थनिर्णय इत्यस्तु लक्षणम् ,यथाहुः–"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" [परीक्षा मु० १.१.] इति, "तत्रापूर्वार्थविज्ञानम्" इति च। तत्राह–

ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

१५–अयमर्थः--द्रव्यापेक्षया वा गृहीतग्राहित्वं विप्रतिषिध्येत, पर्यायापेक्षया वा? तत्र पर्यायापेक्षया धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतग्राहित्वं न सम्भवति, क्षणिकत्वात् पर्यायाणाम्; तत्कथं तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणमुपादीयेत? अथ द्रव्यापेक्षया ; तदप्ययुक्तम्; द्रव्यस्य नित्यत्वादेकत्वेन गृहीतग्रहीष्यमाणावस्थयोर्न भेदः। ततश्च कं विशेषमाश्रित्य

उसे प्रमाण मानने पर गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण हो जाएँगे। अतएव 'अर्थ–निर्णय' के स्थानपर 'अपूर्व अर्थनिर्णय' को प्रमाण कहना चाहिए, अर्थात् जो ज्ञान पहले नहीं जाने हुए पदार्थ का निश्चय करता है, वही प्रमाण है, ऐसा कहना चाहिए। कहा भी है–'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' अर्थात् जो ज्ञान अपना और अपूर्व अर्थ का निर्णय करता है, वही प्रमाण है। तथा 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानम्' इत्यादि। यहाँ भी अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। इस शंका का समाधान किया जाता है–

ग्रहीष्यमाण इत्यादि–जैसे भविष्य में ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ को वर्तमान में ग्रहण करनेवाला ज्ञान अप्रमाण नहीं है, इसी प्रकार पूर्वगृहीत पदार्थ को वर्तमान में ग्रहण करनेवाला ज्ञान भी अप्रमाण नहीं है ॥ ४ ॥

१५–अभिप्राय यह है- ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा से गृहीतग्राही होता है या पर्याय की अपेक्षा से? इनमें से किस गृहीतग्राही ज्ञान की प्रमाणता का निषेध किया जाता है? यदि पर्याय की अपेक्षा ज्ञान को गृहीतग्राही कहा जाय तो धारावाहिक (यह घट है यह घट है इस प्रकार लगातार होनेवाले) ज्ञान भी गृहीतग्राही नहीं हो सकते, क्यों कि पर्याय क्षणिक होते हैं। प्रथम ज्ञान के द्वारा जो पर्याय जाना जाता है, वही दूसरे ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्यों कि दूसरे ज्ञान के समय प्रथम पर्याय रहता ही नहीं है। अतएव धारावाहिक ज्ञान भी अपूर्व–अपूर्व पर्याय को ही जानते हैं। तो फिर उनकी प्रमाणता की निवृत्ति के लिए अपूर्व विशेषण लगाने की आवश्यकता ही क्या है? द्रव्य की अपेक्षा से इन ज्ञानों को गृहीतग्राही मानना भी योग्य नहीं, क्यों कि द्रव्य नित्य है–त्रिकाल में एकरूप रहता है, अतएव गृहीत और ग्रहीष्यमाण अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है। अतएव जैसे गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानते हो, उसी प्रकार ग्रहीष्यमाणग्राही को भी अप्रमाण मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान में किसी पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान इस कारण अप्रमाण नहीं माना जाता कि वह पदार्थ भविष्यत् काल में भी ग्रहण किया जायगा। इसी प्रकार भूतकाल में ग्रहण किये हुए पदार्थ को वर्त्तमान में ग्रहण करनेवाला ज्ञान भी अप्रमाण नहीं हो सकता। जब ग्रहीष्यमाण अवस्था और गृहीत अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है–दोनों में एक ही द्रव्य विद्यमान रहता है, तब किस विशेषता के आधार पर

ग्रहीष्यमाणग्राहिणः प्रामाण्यम्,न गृहीतग्राहिणः ? अपि च अवग्रहेहादीनां गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रामाण्यमिष्यत एव । न चैषां भिन्नविषयत्वम्; एवं ह्यवगृहीतस्य अनीहनात्, ईहितस्य अनिश्चयादसमञ्जसमापद्येत । न च पर्यायापेक्षया अनधिगतविशेषावसायादपूर्वार्थत्वं वाच्यम् ; एवं हि न कस्यचिद् गृहीतग्राहित्वमित्युक्तप्रायम् ।

१६. स्मृतेश्च प्रमाणत्वेनाभ्युपगताया गृहीतग्राहित्वमेव सतत्त्वम् । यैरपि स्मृतेरप्रामाण्यमिष्टं तैरप्यर्थादनुत्पाद एव हेतुत्वेनोक्तो न गृहीतग्राहित्वम्, यदाह–

"न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम् ।
अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्" [न्यायम० पृ० २३]

१७–अथ प्रमाणलक्षणप्रतिक्षिप्तानां संशयानध्यवसायविपर्ययाणां लक्षणमाह–

अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥ ५ ॥

१८.अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिमर्शनशीलं ज्ञानं सर्वात्मना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अन्धकारे दूराद्धर्वाकारवस्तूपलम्भात् साधकबाधक प्रमाणाभावे सति 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति प्रत्ययः ।

ग्रहीष्यमाणग्राही ज्ञान को प्रमाण और गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण माना जाता है ? इसके अतिरिक्त अवग्रह, ईहा,अवाय आदि ज्ञान गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण माने ही जाते हैं । इन ज्ञानों का विषय भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं होता । यदि इन ज्ञानों के द्रव्य भिन्न भिन्न माने जायेंगे तो अवग्रह के द्वारा जाना हुवा द्रव्य ईहा का विषय नहीं हो सकेगा और ईहा के विषयभूत द्रव्य का अवायदि के द्वारा निश्चय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार सब असमंजस हो जाएगा । यदि ऐसा कहें कि पर्याय की अपेक्षा से (इनके विषयोंमें विभिन्नता होने के कारण) उत्तरोत्तर ज्ञान अगृहीत विषय का निश्चय करते हैं अतः इन सभी ज्ञानों के विषय अपूर्व होते हैं । तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर कोई भी ज्ञान गृहीतग्र ही नहीं हो सकेगा । यह बात कही जा चुकी है ।

१६–स्मृति को प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है वह गृहीतग्राही ही है । जिन लोगोंने स्मृति को प्रमाण नहीं माना है उन्होंने भी इसके लिए " पदार्थ से उत्पन्न न होना" कारण बताया है, न कि गृहीतग्राहिता को । जैसा कि कहा है-न स्मृतेः"इत्यादि । स्मृति की अप्रमाणता गृहीतग्राहिताके कारण नहीं, अपितु 'पदार्थ से उत्पन्न न होना' उसकी अप्रमाणता का कारण है ।

१७–अब प्रमाणलक्षण के प्रसंगपर निषेध के लिये प्रस्तुत संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय के लक्षण कहते हैं । [अनुभयत्र० इति] जिस वस्तु में दो धर्म नहीं हैं, उसमें दो धर्मों को स्पर्श करने अनिश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान संशय कहलाता है ।।५।।

१८–उभय स्वभाव से रहित वस्तु में उभय धर्मो-कोटियों का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहा गया है । इसमें आत्मा पूरी तरह सो सा जाता है । हल्का अन्धकार हो,दूर से ऊँची कोई वस्तु दिखाई देती हो और साधक-बाधक प्रमाणों का अभाव हो–उस समय 'यह ठूँठ खडा है या पुरुष ?' इस प्रकार का जो सामान्य ज्ञान होता है वह संशय है ।

अनुभयत्रग्रहणमुभयरूपे वस्तुन्युभयकोटिसंस्पर्शेऽपि संशयत्वनिराकरणार्थम्, यथा 'अस्ति च नास्ति च घटः', नित्यश्चानित्यश्चात्मा' इत्यादि ।।५।।

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ।। ६ ।।

१९. दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मावमर्शरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मकत्वात् अनध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति । यदप्यविकल्पकं प्रथमक्षणभावि परेषां प्रत्यक्षप्रम.ण.वेनाभिमतं तदप्यनध्यवसाय एव, विशेषोल्लेखस्य तत्राप्यभावादिति ।।६।।

अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ।। ७ ।।

२०. यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासरूपत्वाद्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरादिदोषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः, नौयानात् अगच्छत्स्वपि वृक्षेषु गच्छत्प्रत्ययः आशुभ्रमणात् अलातादावचक्रेऽपि चक्रप्रत्यय इति । अवसितं प्रमाणलक्षणम् ।।७।।

ऊँचाई ठूँठ में भी होती है, पुरुष में भी होती है उसका ज्ञान तो होता है । किन्तु पुरुष और ठूँठ में पाये जाने वाले विशेष धर्म मालूम नहीं होते । इस कारण एक ही वस्तु में स्थाणुत्व और पुरुषत्व, यह दो कोटियाँ प्रतीत होती हैं, परन्तु निश्चय किसी का हो नहीं पाता । ऐसे ज्ञान को संशय समझना चाहिए ।

सूत्र में 'अनुभयत्र' पद का प्रयोग किया गया है, वह इस बातको प्रकट करने के लिए है कि जिस वस्तु में दोनों ही धर्म विद्यमान हों, उसमें यदि दोनों धर्मों का बोध हो तो वह संशय नहीं कहलाएगा । जैसे-घट स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है, आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है । इत्यादि ।। ६ ।।

अनध्यवसायका लक्षण

विशेष का उल्लेख न करने वाला ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है ।। ६ ।।

१९-दूरी, अन्धकार आदिकारणों से असाधारण धर्म के विचार से रहित ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अनध्यवसाय कहलाता है; जैसे-'यह क्या है !' इस प्रकार का ज्ञान ।

प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाला निर्विकल्पक ज्ञान भी, जिसे बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, वास्तव में अनध्यवसाय ही है, क्योंकि उसमें भी विशेष धर्म का उल्लेख नहीं होता है ।।६।।

विपर्यय ज्ञान का लक्षण

अतद्रूप वस्तु में तद्रूपता का निश्चय हो जाना विपर्यय ज्ञान कहलाता है ।।७।।

२२-ज्ञान में जो वस्तु प्रतीत हो रही है वह वास्तव में न हो फिर भी उसकी निश्चयात्मक प्रतीति होना विपर्यय ज्ञान है, क्योंकि वह विपरीत है । उदाहरणार्थ-धातु (पित्त) की विषमता से मधुर द्रव्यों का कटुक प्रतीत होना, तिमिर रोग आदि दोष के कारण एक ही चन्द्रमा में दो चन्द्रमा आदि का प्रतीत होना, वेग के साथ नौका के चलने से नहीं चलते हुए वृक्षों का भी चलना प्रतीत होना या शीघ्र भ्रमण के कारण अचक्र रूप अलात आदि का चक्र के रूप में प्रतिभास होना । यहाँ प्रमाण का लक्षण समाप्त हुआ ।।७।।

२१. ननु अस्तूक्तलक्षणं प्रमाणम्: तत्प्रामाण्यं तु स्वतः, परतो वा निश्चीयेत ? न तावत् स्वतः; तद्धि श्व (स्व) संविदितत्वात् ज्ञानमित्येव गृह्णीयात्, न पुनः सम्यक्त्वलक्षणं प्रामाण्यम्, ज्ञानत्वमात्रं तु प्रमाणाभाससाधारणम्। अपि च स्वतः प्रामाण्ये सर्वेषामविप्रतिपत्तिप्रसङ्गः। नापि परतः; परं हि तद्गोचरगोचरं वा ज्ञानम् अभ्युपेयेत, अर्थक्रियानिर्भासं वा, तद्गोचरनान्तरीयकार्थदर्शनं वा ? तच्च सर्वं स्वतोऽनवधृतप्रामाण्यमव्यवस्थितं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं ज्ञानं व्यवस्थापयेत् ? स्वतो वाऽस्य प्रामाण्ये कोऽपराधः प्रवर्तकज्ञानस्य येन तस्यापि तन्न स्यात् ? न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्युक्तमेव, परतस्त्वनवस्थेत्याशङ्क्याह –

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

२२–प्रामाण्यनिश्चयः क्वचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापन्ने स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिर्भासे वा प्रत्यक्षज्ञाने; नहि तत्र परीक्षा-

---

२१–शंका–आपने प्रमाण का जो लक्षण कहा, सो ठीक है, परन्तु उसकी प्रमाणता का निश्चय स्वतः होता है या परतः ? अर्थात् वही प्रमाण अपनी प्रमाणता का निश्चय कर लेता है अथवा किसी दूसरे प्रमाण से उसका निश्चय होता है ?

प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेदी है, अतएव प्रमाणभूत ज्ञान अपने ज्ञानत्व के स्वरूप को तो स्वयं ही जान लेगा, परन्तु अपने सम्यक्पन–प्रमाणत्व को स्वतः नहीं जान सकता। और ज्ञानत्व तो प्रमाणाभास में भी समान रूप से रहता है। इसके अतिरिक्त यदि प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः हो जाय तो किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि प्रमाणता किसी दूसरे ज्ञान से जानी जाती है तो वह दूसरा ज्ञान कौन-सा है ? प्रथम ज्ञान के विषय को ही ग्रहण करने वाला ज्ञान, अर्थक्रिया का ज्ञान अथवा प्रथम ज्ञान के विषय (जैसे अग्नि) के विना न होने वाले पदार्थ (धूम) का ज्ञान ? इन तीनों ही ज्ञानों की प्रमाणता का जब तक निश्चय नहीं हो जाएगा तब तक ये ज्ञान प्रथम ज्ञान की प्रमाणता के निश्चायक नहीं हो सकते, यदि इन ज्ञानों को प्रमाणता का निश्चय स्वतः हो जाता है तो प्रथम ज्ञान ने क्या अपराध किया है जिससे वह भी अपनी प्रमाणता का निश्चय स्वतः न कर सके ? कदाचित् कहा जाय कि इन ज्ञानों की प्रमाणता भी परतः–दूसरे ज्ञान से निश्चित होती है तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है, अर्थात् जैसे प्रथम ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ी वैसे ही दूसरे ज्ञान की प्रमाणता के निश्चय के लिए तीसरे की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य ज्ञानों की कल्पना करते-करते कहीं अन्त ही नहीं होगा। इस आशंका का समाधान करने के लिए अगला सूत्र है।

अर्थ–ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है ॥८॥

जब हमें अपनी हथेली आदि अभ्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है अथवा स्नान, पान अवगाहन, पिपासा की उपशान्ति आदि अर्थक्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब प्रत्यक्ष की प्रमाणता का स्वतः निश्चय हो जाता है। बुद्धिमानों को ऐसे ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करने

काङ्क्षास्ति प्रेक्षावताम्,तथा हि-जलज्ञानम्,ततो दाहपिपासार्त्तस्य तत्र प्रवृत्तिः ततस्तत्प्राप्तिः, ततः स्नानपानादीनि, ततो दाहोदन्योपशम इत्येतावतैव भवति कृती प्रमाता, न पुनर्दाहोदन्योपशमज्ञानमपि परीक्षते,इत्यस्य स्वतः प्रामाण्यम् । अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि सर्वथा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्के स्वत एव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्; न लिङ्गाकारं ज्ञानं लिगं विना, न च लिगं लिंगिनं विनेति ।

२३ क्वचित् परतः प्रामाण्यनिश्चयः,यथा अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे । नहि तत् अर्थेन गृहीताव्यभिचारमिति तदेकविषयात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा अर्थक्रियानिर्भासाद्वा, नान्तरीयार्थदर्शनाद्वा तस्य प्रामाण्यं निश्चीयते । तेषां च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयान्नानवस्थादिदौस्थ्यावकाशः ।

२४.शाब्दे तु प्रमाणे दृष्टार्थेऽर्थाव्यभिचारस्य दुर्ज्ञानत्वात् संवादाद्यधीनः परतः प्रामाण्यनिश्चयः; अदृष्टार्थे तु दृष्टार्थग्रहोपराग-नष्ट-मुष्टयादिप्रतिपादकानां संवादेन प्रामाण्यं निश्चित्य संवादमन्तरेणाप्याप्तोक्तत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति सर्वमुपपन्नम् ।

की आवश्यकता नहीं रहती । दाह या प्यास से पीडित मनुष्य को जब जल का ज्ञान होता है तो वह 'जल है' ऐसा ज्ञान होते ही उसमें प्रवृत्ति करता है. जल की प्राप्ति होती है, जलप्रप्ति होने पर उसमें स्नान करता है, प्यासा हो तो उसे पीता है, और उसकी दाह या प्यास बुझ जाती है । इसी से प्रमाता कृतार्थ हो जाता है । दाह या प्यास बुझने के ज्ञान की प्रमाणता की परीक्षा नहीं करता । अर्थात् वह दाह या पिपासा शान्त होने का अनुभव करता है और उस अनुभव की सचाई का निश्चय करने के लिए दूसरे प्रमाण की खोज नहीं करता उसे अपने उस अनुभव की प्रामाणिकता स्वतः ही प्रतीत होती है । जिनमें किसी भी प्रकार के दोष की आशंका नहीं है तो उन सब अनुमानों में भी स्वतः प्रमाणता का निश्चय हो जाता है, क्योंकि वे अव्यभिचरित लिग (साधन) से उत्पन्न होते हैं । साधन (धूम) का ज्ञान साधन के हुए बिना नहीं हो सकता और साधन, साध्य (अग्नि) के बिना नहीं हो सकता ।

कहीं-कहीं प्रामाण्य का निश्चय परतः (दूसरे ज्ञान से) भी होता है । जब किसी अनभ्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब उस प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यभिचार निश्चित नहीं होता, ऐसी स्थिति में किसी अन्य ज्ञान से ही उसकी प्रमाणता का निश्चय हो सकता है । वह दूसरा ज्ञान यातो प्रथम ज्ञान के विषय को जानने वाला उसका पोषक हो, अर्थक्रिया का ज्ञान हो अथवा (प्रथम ज्ञान द्वारा प्रदर्शित पदार्थ के) अविनाभावी पदार्थ का दर्शन हो । इन तीनों ज्ञानों की प्रमाणता का निश्चय स्वतः ही होता है, अतएव अनवस्था आदि दोषों के लिए कोई अवकाश नहीं है ।

जो आगम प्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादक है, उसकी प्रमाणता यदि दुर्ज्ञेय हो तो वह संवाद आदि से निश्चित होती है । प्रत्यक्ष दीखने वाले ग्रहोपराग, नष्ट, मुष्टि आदि के प्रतिपादक वाक्यों की प्रमाणता संवाद के द्वारा निश्चित करने से अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थ के प्रतिपादक आगम की प्रमाणता संवाद के बिना भी, केवल आप्तकथित होने से ही निश्चित हो जाती है । इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने में कोई गड़बड़ नहीं होती ।

२५. "अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्" इति नैयायिकाः । तत्रार्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रम्; तदा तत् सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसंगः । अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं करणं हेतुशब्देन विवक्षितम्; तर्हि तत् ज्ञानमेव युक्तं नेन्द्रियसन्निकर्षादि, यस्मिन् हि सत्यर्थं उपलब्धो भवति स तत्करणम् । न च इन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावे स भवति, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिष्यते, व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दधिभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः । तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्, अन्यत्रोपचारात् ।

२६–"सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्" (न्यायसा० पृ० १) इत्यत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्य प्रमाणत्वं सिध्यति, तथाप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैवेति तदेव प्रमाणत्वेनैष्टव्यम् ।

२७–"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" (प्रमाणवा० २. १) इति सौगताः । तत्रापि यद्य विकल्पकं ज्ञानम्; तदा न तद् व्यवहारजननसमर्थम् । सांव्यवहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य

(अब पराभिमत प्रमाणलक्षणों पर विचार किया जाता है ।)

२५–नैयायिक मत के अनुसार अर्थ की उपलब्धि अर्थात् ज्ञप्ति में जो हेतु हो वही प्रमाण है । इस लक्षण में 'हेतु' शब्द से यदि 'निमित्तत्व मात्र' अर्थ लिया जाय तो यह निमित्त सभी करणों में समान है, अतएव कर्त्ता और कर्म आदि भी प्रमाण हो जाएँगे । तात्पर्य यह है कि अर्थ (प्रमेय) की उपलब्धि में प्रमेय (कर्म) भी निमित्त होता है और प्रमाता (कर्त्ता) भी निमित्त होता है । अतएव प्रमेय और प्रमाता को भी प्रमाण मानना पडेगा ।

यदि 'हेतु' शब्द का अर्थ कर्त्ता और कर्म से विलक्षण केवल 'करण' ही माना जाय अर्थात् अर्थोपलब्धि के करण को ही प्रमाण कहा जाय तो फिर ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए, इन्द्रियसन्निकर्ष आदि को नहीं, जिसके होने पर अर्थ उपलब्ध होता है, वही अर्थ की उपलब्धि में करण हो सकता है । इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्री के विद्यमान रहने पर भी ज्ञान के अभाव में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती (अतएव वह करण नहीं है ।) करण साधकतम होता है और उसके होने पर कार्य की उत्पत्ति में व्यवधान नहीं होता । जिसके होने पर भी कार्य की उत्पत्ति में व्यवधान हो, उसे भी यदि करण माना जाय तो दधि भोजन आदि को भी करण (और करण होने से प्रमाण) मानना पडेगा । अतएव उपचार के सिवाय ज्ञान से भिन्न सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हो सकते ।

२६–'सम्यक् अनुभव का साधन प्रमाण कहलाता है' इस लक्षण में भी 'साधन' शब्द से कर्त्ता और कर्म का निराकरण करके करण की ही प्रमाणता सिद्ध होती है । और अव्यवहित फल (कार्य) वाला होने से ज्ञान ही साधकतम है, अतएव ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिए ।

बौद्धमत में अविसंवादी अर्थात् सफल क्रियाजनक ज्ञान प्रमाण माना गया है । किन्तु ज्ञान यदि निर्विकल्पक होगा तो वह व्यवहारजनक नहीं हो सकता । आप सांव्यवहारिक प्रमाण का यह लक्षण मानते हैं । ऐसी स्थिति में निर्विकल्पक ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है ?

लक्षणमिति च भवन्तः, तत्कथं तस्य प्रामाण्यम्? उत्तरकालभाविनो व्यवहारजननसमर्थाद्विकल्पात् तस्य प्रामाण्ये याचितकमण्डनन्यायः, वरं च व्यवहारहेतोर्विकल्पस्यैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तुम्; एवं हि परम्परापरिश्रमः परिहृतो भवति। विकल्पस्य चाप्रामाण्ये कथं तन्निमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी ? दृष्ट(श्य) विकल्प (ल्प्य) योरर्थयोरेकीकरणेन तैमिरिकज्ञानवत् संवादाभ्युपगमे चोपचरितं संवादित्वं स्यात् । तस्मादनुपचरितमविसंवादित्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णयः प्रमाणमेष्टव्य इति ॥८॥

२८–प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा परीक्ष्य च विशेषलक्षणं वक्तुकामो विभागमन्तरेण तद्वचनस्याशक्यत्वात् विभागप्रतिपादनार्थमाह–

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

२९–सामान्यलक्षणसूत्रे प्रमाणग्रहणं परीक्षयान्तरितमिति न 'तदा' परामृष्टं किन्तु साक्षादेवोक्तं प्रमाणम्-इति। द्विधा द्विप्रकारमेव, विभागस्यावधारणफलत्वात्। तेन प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्क्षानुमानागमाः प्रमाणमिति वैशेषिकाः,

---

कदाचित् यह कहा जाय कि निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसको उत्पन्न करने के कारण निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण कहलाता है। सो यह तो माँगे हुए आभूषणों से शोभा बढ़ाना है। इससे तो यही अच्छा है कि व्यवहार को उत्पन्न करने वाले सविकल्प ज्ञान को ही प्रमाण मान लिया जाय। ऐसा मानने से परम्परा-परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त, विकल्प ज्ञान को अप्रमाण मानने पर उसके निमित्त से होने वाला व्यवहार अविसंवादी कैसे हो सकता है ? दृश्य (निर्विकल्प के विषय) का और विकल्प (सविकल्प ज्ञान के विषय) का एकीकरण कर लेने से, तैमिरिक ज्ञान के समान, संवाद स्वीकार करोगे तो उसका संवादकत्व उपचरित ही होगा। अतः यदि बौद्ध वास्तविक अविसंवादी ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहते हैं तो उन्हें निर्णय-सविकल्प-निश्चयात्मक-ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए ॥८॥

२८–प्रमाण का लक्षण बतलाया जा चुका है। उसकी परीक्षा भी की जा चुकी है। अब प्रमाणविशेष का लक्षण कहना है। किन्तु प्रमाण के भेदों का कथन किये विना विशेष लक्षण बतलाना संभव नहीं। अतएव भेदों का प्रतिपादन करते हैं–

अर्थ–प्रमाण दो प्रकार का है ॥९॥

२९–यद्यपि प्रमाणसामान्य के लक्षण वाले सूत्र (सूत्र २) में 'प्रमाण' शब्द का ग्रहण किया है, फिर भी यहाँ उसके लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग न करके साक्षात् 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि दोनों के बीच में परीक्षा का अन्तर पड़ गया है–बीच में प्रमाण की परीक्षा की गई है। प्रमाण दो प्रकार का है, अर्थात् दो ही प्रकार का है, क्योंकि एव का फल अवधारण करना होता है। अतएव एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक का, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम को प्रमाण मानने वाले वैशेषिकों का,

तान्येवेति साङ्ख्याः, सहोपमानेन चत्वारीति नैयायिकाः, सहार्थापत्त्या पञ्चेति प्राभाकराः, सहाऽभावेन षडिति भाट्टाः इति न्यूनाधिकप्रमाणवादिनः प्रतिक्षिप्ताः। तत्प्रतिक्षेपश्च वक्ष्यते ॥९॥

३०–तर्हि प्रमाणद्वैविध्यं किं तथा यथाहुः सौगताः "प्रत्यक्षमनुमानं च" (प्रमाण० १. २ न्यायवि० १. ३.) इति, उतान्यथा ? इत्याह–

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥१०॥

३१-अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानिति अक्षो जीवः अश्नुते विषयम् इति अक्षम्–इन्द्रियं च। प्रतिः प्रतिगतार्थः, अक्षं प्रतिगतं तदाश्रितम्, अक्षाणि चेन्द्रियाणि तानि प्रतिगतमिन्द्रियाण्याश्रित्योज्जिहीते यत् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम्। अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यत इति परोक्षं वक्ष्यमाणलक्षणमेव। चकारः स्वविषये द्वयोस्तुल्यबलत्वख्यापनार्थः। तेन यदाहुः- "सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम्" इति तदपास्तम्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वादितरप्रमाणानां तस्य ज्येष्ठतेति चेत्; न; प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणान्तरपूर्वकत्वोपलब्धेः, लिङ्गात् आप्तोपदेशाद्वा वह्न्यादिकमवगम्य प्रवृत्तस्य तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेः ॥१०॥

तथा उतने ही मानने वाले सांख्यों का, उपमानसहित चार प्रमाण मानने वाले नैयायिकों का, अर्थापत्तिसहित पाँच प्रमाण मानने वाले प्राभाकरों का और अभाव के साथ छह प्रमाण मानने वाले भाट्टों का-इस प्रकार न्यून या अधिक प्रमाण मानने वालों के मत का निषेध किया गया है। इनका खण्डन आगे करेंगे ॥९॥

३०–तो क्या प्रमाण के दो भेद वही प्रत्यक्ष और अनुमान हैं, जैसा कि बौद्ध कहते हैं ? अथवा और कोई अन्य हैं ? इस प्रश्न का उत्तर–

अर्थ--प्रत्यक्ष और परोक्ष–यह दो प्रकार के प्रमाण हैं ॥१०॥

'अश्नुते' या 'अक्ष्णोति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को व्याप्त करता है, वह 'अक्ष' अर्थात् जीव कहलाता है। जो अपने विषय को व्याप्त करता है, उसे भी अक्ष कहते हैं। यहाँ 'अक्ष' का अर्थ इन्द्रिय है। जो ज्ञान 'अक्ष' पर आश्रित हो अर्थात् इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता हो वह 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। उसका लक्षण आगे कहा जाएगा। जो ज्ञान इन्द्रियों से पर हो वह या जो पर--इन्द्रियों से उत्पन्न होता हो, वह परोक्ष कहलाता है। उसका भी स्वरूप आगे कहा जाएगा।

सूत्र में 'च' जो अव्यय है, वह इस तथ्य को सूचित करता है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तुल्य बल वाले हैं। इससे 'प्रत्यक्ष सकल प्रमाणों में ज्येष्ठ है' इस मत का निराकरण हो जाता है। अन्य प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं, अतएव प्रत्यक्ष सब प्रमाणों में ज्येष्ठ है, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी अन्य प्रमाणपूर्वक देखा जाता है। लिंग या आप्तोपदेश से अर्थात् पहले अनुमान या आगम से अग्नि आदि को जान कर प्रवृत्ति करने वाले को भी अग्नि का प्रत्यक्ष होता है ॥१०॥

३२–न प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमिति लौकायतिकाः । तत्राह–

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥११॥

३३--प्रमाणाप्रमाणविभागस्य, परबुद्धेः, अतीन्द्रियार्थनिषेधस्य च सिद्धिर्नानुमानादिप्रमाणं विना । चार्वाको हि काश्चिज्ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्यान्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते । न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च परोक्षान्तर्गतमनुमानरूपं प्रमाणान्तरमुपासीत ।

३४--अपि च (अ)प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको न परीक्षकः' इत्युन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् । न च प्रत्यक्षेण परचेतोवृत्तीनामधिगमोस्ति । चेष्टाविशेषदर्शनात्तदवगमे च परोक्षस्य प्रामाण्यमनिच्छतोऽप्यायातम् ।

३२-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, इस चार्वाक मत के विषय में कहते हैं–

अर्थ--प्रमाण-अप्रमाण की व्यवस्था, अन्य की बुद्धि तथा पर-लोक आदि का निषेध करने को सिद्ध होने से प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण की सिद्धि होती है ॥११॥

३३–प्रमाण और अप्रमाण का विभाग, पर की बुद्धि और अतीन्द्रिय पदार्थ का निषेध अनुमान प्रमाण को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता ।

चार्वाक किन्हीं ज्ञानों को संवादक समझ कर प्रमाण और किन्हीं को विसंवादक समझ कर अप्रमाण मानते हैं । पुनः कालान्तर में उन्हीं के समान संवादक ज्ञानों की प्रमाणता और अन्य प्रकार के ज्ञानों की अप्रमाणता की व्यवस्था करते हैं । किन्तु सन्निहित (इन्द्रियसम्बद्ध) पदार्थों के बल से उत्पन्न होने वाला और आगे-पीछे का विचार न करने वाला प्रत्यक्ष यह नहीं कर सकता । वह पूर्वापर काल में होने वाले ज्ञानविशेषों की प्रमाणता या अप्रमाणता का विचार करने में समर्थ नहीं है । अतएव पूर्वानुभूत ज्ञान की समानता के आधार पर वर्त्तमानकालीन ज्ञान की प्रमाणता अथवा अप्रमाणता का निर्णय करने वाला तथा उस निर्णय को दूसरों के समक्ष प्रतिपादन करने वाला एक पृथक् ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिए । वह प्रमाणान्तर परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत अनुमान ही हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त-दूसरा जिस अर्थ को समझना नहीं चाहता, उसे समझाता हुआ यह चार्वाक न लौकिक (लोक–व्यवहार में कुशल) कहलाएगा और न प्रामाणिक (प्रमाणपूर्वक व्यवहार करने वाला) ही । अतएव उन्मत्त पुरुष की तरह उपेक्षणीय होगा । प्रत्यक्ष से दूसरे की चित्तवृत्तियाँ जानी नहीं जा सकतीं । विशेष प्रकार की चेष्टा देख कर दूसरे की इच्छा को बिना चाहे भी जानने की बात कही जाय तो परोक्ष की प्रमाणता सिद्ध होती है । तात्पर्य यह

३५--परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, सन्निहितमात्रविषयत्वात्तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः।

३६–किञ्च,प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यं तच्चार्थप्रतिबद्धलिंगशब्दद्वारा समुन्मज्जतः परोक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते? व्यभिचारिणोपि परोक्षस्य दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्; प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषादप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसंगः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्; इतरत्रापि तुल्यमेतदन्यत्र पक्षपातात्। धर्मकीर्तिरप्येतदाह–

"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥१॥
अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥२॥ इति।

है कि दूसरे की मनोवृत्ति को समझकर उसी के अनुसार वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य (अनुमान) प्रमाण स्वीकार करना पडेगा।

३५–और अकेले प्रत्यक्षप्रमाण से परलोक,आत्मा,पुण्य-पाप आदि का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थों को ही जान सकता है। चार्वाक पर-लोक आदि का निषेध किये विना चैन नहीं पाता और निषेध करने के लिए प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी स्वीकार नहीं करता! यह बाल-हठ ही है।

३६–आखिर प्रत्यक्ष को क्यों प्रमाण माना है? इसी कारण तो कि वह अर्थाव्यभिचारी है, अर्थात् पदार्थ के होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है। किन्तु यह अर्थाव्यभिचार तो अविनाभावी लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान में और अर्थ-प्रतिबद्ध शब्द द्वारा होने वाले शाब्द प्रमाण में भी होता ही है। फिर उन्हें प्रमाण क्यों नहीं मानते? कदाचित् कहा जाय कि परोक्ष प्रमाण व्यभिचारी (पदार्थ के विना होने वाला) भी देखा जाता है, अतएव वह अप्रमाण है तो तिमिर आदि दोष के कारण प्रत्यक्ष भी व्यभिचारी देखा जाता है। उसे भी सर्वत्र अप्रमाण मानना पडेगा। प्रत्यक्ष जब व्यभिचारी होता है तो अप्रमाण मानना पडेगा। प्रत्यक्ष जब व्यभिचारी होता है तो वह प्रत्यक्ष ही नहीं-प्रत्यक्षामात्र है, ऐसा कहा जाय तो परोक्ष के संबन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। अर्थात् जब अनुमान और शाब्द ज्ञान व्यभिचारी हों तो उन्हें भी अनुमान और शाब्द नहीं, वरन् अनुमानाभास और शाब्दाभास कहना चाहिये। पक्षपातसिवाय दोनों में और कोई अन्तर नहीं है। धर्मकीर्त्ति ने भी कहा है–

अर्थ–'प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान की समानता के आधार पर कालान्तर में होने वाले ज्ञानों की प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था करने से, दूसरे की बुद्धि (या अभिप्राय) को समझने से तथा परलोक आदि का निषेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरे प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है।' पदार्थ के अभाव में न होने के कारण ही प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है, किन्तु

३७–यथोक्तसंख्यायोगेऽपि च परोक्षार्थविषयमनुमानमेव सौगतैरुपगम्यते; तदयुक्तम्; शब्दादीनामपि प्रमाणत्वात् तेषां चानुमानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वात्। एकेन तु सर्वसङ्ग्राहिणा प्रमाणेन प्रमाणान्तरसंग्रहे नायं दोषः। तत्र यथा इन्द्रियजमानसात्मसंवेदनयोगिज्ञानानां प्रत्यक्षेण संग्रहस्तथा स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमानां परोक्षेण संग्रहो लक्षणस्याविशेषात्। स्मृत्यादीनां च विशेषलक्षणानि स्वस्थान एव वक्ष्यन्ते। एवं परोक्षस्योपमानस्य प्रत्यभिज्ञाने, अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावोऽभिधास्यते ॥११॥

३८–यत्तु प्रमाणमेव न भवति न तेनान्तर्भूतेन बहिर्भूतेन वा किञ्चित् प्रयोजनम्, यथा अभावः। कथमस्याप्रामाण्यम्? निर्विषयत्वात् इति ब्रूमः। तदेव कथम्? इति चेत्--

भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥

३९--नहि भावैकरूपं वस्त्वस्ति विश्वस्य वैश्वरूप्यप्रसंगात्, नाप्यभावैकरूपं नीरूपत्वप्रसंगात्; किन्तु स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावरूपं वस्तु तथैव प्रमाणानां प्रवृत्तेः। तथाहि-प्रत्यक्षं तावत् भूतलमेवेदं घटादिर्न भवतीत्यन्वय-

---

अविनाभूत लिंग से उत्पन्न होने वाले अप्रत्यक्ष में भी यही बात है। अतएव प्रत्यक्ष की भाँति अप्रत्यक्ष (अनुमान) को भी प्रमाण मानना चाहिए।'

३७-बौद्ध प्रमाण की संख्या तो दो ही मानते हैं,मगर परोक्ष पदार्थ को विषय करने वाला सिर्फ अनुमान ही है'ऐसा कहते हैं। उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है,क्योंकि शाब्द (आगम) आदि भी प्रमाण हैं और अनुमान में उनका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। सभी को संगृहीत कर लेने वाला एक (परोक्ष नामक) प्रमाण मान लेने में यह दोष नहीं रहता। जैसे इन्द्रियज, मानस, स्वसंवेदन और योगिज्ञान का प्रत्यक्ष में समावेश होता है, उसी प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम का एक ही परोक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। इन सब में समान रूप से परोक्ष का लक्षण घटित होता है। स्मृति आदि के विशेष लक्षण उन-उन के स्थानों पर आगे बतलाए जाएँगे। परोक्ष उपमान का प्रत्यभिज्ञान में और अर्थापत्ति का अनुमान में समावेश होता है, यह भी आगे कहेंगे ॥११॥

३८-जो ज्ञान प्रमाण ही नहीं है,वह किसी के अन्तर्गत है या बहिर्गत है,इससे कोई प्रयोजन नहीं,जैसे अभाव का ज्ञान। प्रश्न--अभाव ज्ञान अप्रमाण क्यों है? उत्तर--अभाव ज्ञान का विषय ही कुछ नहीं है। प्रश्न--क्यों? उत्तर--इसका उत्तर इस सूत्र में देते हैं--

अर्थ--वस्तु भावात्मक-अभावात्मक है, अतः अभाव प्रमाण निर्विषय है ॥१२॥

३९–वस्तु एकान्त भावात्मक-सद्रूप-नहीं है। एकान्त भावात्मक हो तो प्रत्येक वस्तु सर्वात्मक हो जायगी। और यदि एकान्त अभावात्मक हो तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने से भावाभावात्मक है और इसी रूप में वह प्रमाणों से ग्राह्य होती है। 'यह भूतल ही है, घटादि नहीं है' इस प्रकार विधि और

व्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति कं विषयमाश्रित्याभावलक्षणं प्रमाणं स्यात् ? । एवं परोक्षाण्यपि प्रमाणानि भावाभावरूपवस्तुग्रहणप्रवणान्येव, अन्यथाऽसङ्कीर्णस्वस्वविषयग्रहणासिद्धेः, यदाह–

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते ।।"

इति [श्लोकवा० अभाव० श्लो. १५.]

४०–अथ भवतु भावाभावरूपता वस्तुनः, किं नश्छिन्नम् ?, वयमपि हि तथैव प्रत्यपीपदाम। केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकृष्टत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणगोचरः अभावांशस्तु न तथेत्यभावप्रमाणगोचर इति कथमविषयत्वं स्यात् ?, तदुक्तम्–

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ।।१।।
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ।।२।।"

इति । [श्लोकवा.३ अभाव० श्लो. १८, २७]

निषेध के रूप में प्रत्यक्ष वस्तु को ग्रहण करता है । इससे एकान्त अभाव है ही नहीं तो अभाव प्रमाण का विषय क्या होगा ? कुछ भी नहीं । प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण भी भावाभावात्मक वस्तु को ही ग्रहण करते हैं । अगर वे भावाभावात्मक वस्तु ग्रहण न करें तो पृथक् पृथक् वस्तु का ग्रहण ही नहीं हो । श्लोकवर्तिक में कहा है–

किसी भी भाव में 'यही है' अर्थात् यह अश्व ही है, ऐसा निश्चय अन्य वस्तुओं के अभाव को जाने बिना नहीं होसकता । तात्पर्य यह है कि 'यह अश्व ही है' ऐसा निश्चय तभी हो सकता है जब यह जान लिया जाय कि यह अश्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि कोई भी प्रमाण किसी भी वस्तु को जब जानता है तो उसके भाव और अभाव दोनों रूपों को ही जानता है । दोनों रूपों को जाने बिना वस्तु का असाधारणस्वरूप समझ में नहीं आ सकता ।

४०-शंका-वस्तु को भाव-अभाव रूप मान लेने से भी हमारे मत में कोई बाधा नहीं आती। बल्कि हम भी यही कहते हैं । किन्तु हमारा कहना यह है कि वस्तु का भाव-अंश इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, किन्तु अभाव-अंश का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होने से वह अभाव प्रमाण द्वारा ग्रहण किया जाता है । ऐसी अवस्था में अभाव प्रमाण निर्विषय नहीं हो सकता । कहा भी है–'नास्तित्व का ज्ञान इन्द्रियाँ उत्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि इन्द्रियों का संयोग भाव-अंश के साथ ही हो सकता है ।'

'पहले वस्तु के सद्भाव को ग्रहण किया जाता है, फिर [1]प्रतियोगी का स्मरण किया जाता है । तत्पश्चात् इन्द्रियों की सहायता के बिना मन के द्वारा नास्तित्व का ज्ञान होता है ।'

१–जिसका अभाव जाना जाता है वह प्रतियोगी कहलाता है । घट का अभाव जानते समय घट प्रतियोगी है ।

४१--ननु भावांशादभावांशस्याभेदे कथं प्रत्यक्षेणाग्रहणम् ?, भेदे वा घटाद्यभावरहितं भूतलं प्रत्यक्षेण गृह्यत इति घटादयो गृह्यन्त इति प्राप्तम्, तदभावाग्रहणस्य तद्भावग्रहणनान्तरीयकत्वात् । तथा चाभावप्रमाणमपि पश्चात्प्रवृत्तं न तानुत्सारयितुं पटिष्ठं स्यात्, अन्याथाऽसङ्कीर्णस्य सङ्कीर्णताग्रहणात् प्रत्यक्षं भ्रान्तं स्यात्।

४२--अपि चायं प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपत्वात् तुच्छः । तत एवाज्ञानरूपः कथं प्रमाणं भवेत् ? । तस्मादभावांशात्कथञ्चिदभिन्नं भावांशं परिच्छिन्दता प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाभावांशो गृहीत एवेति तदतिरिक्तविषयाभावान्निर्विषयोऽभावः । तथा च न प्रमाणमिति स्थितम् ।।१२।।

४३--विभागमुक्त्वा विशेषलक्षणमाह--

विशदः प्रत्यक्षम् ।।१३।।

४४--सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य 'विशदः' इति विशेषलक्षणं प्रसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य विधीयते । तथा च प्रत्यक्षं धर्मि । विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकमिति साध्यो धर्मः । प्रत्यक्षत्वादिति

४१-समाधान-अभाव-अंश भाव-अंश से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न है तो प्रत्यक्ष के द्वारा भाव-अंश जानने पर वह अनजाना कैसे रह सकता है ? यदि भिन्न है तो घटाभाव से भिन्न भूतल के ग्रहण होने का अर्थ घट का ग्रहण होना ही कहलाया; क्योंकि किसी वस्तु के अभाव का ग्रहण न होना उसके भाव का ग्रहण होने पर ही होता है । जब प्रत्यक्ष से घट का ग्रहण हो गया तो बाद में अभाव प्रमाण प्रवृत्त हो कर भी उसका निषेध नहीं कर सकता । अगर अभाव प्रमाण घट का निषेध करता है तो प्रत्यक्ष को भ्रांत मानना पडेगा, क्योंकि असंकीर्ण को संकीर्ण रूप में ग्रहण किया अर्थात् जो भूतल घटरहित था उसे घटसहित जाना ।

४२---सत्ता को गहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न होना अभाव प्रमाण है । इस प्रकार अभाव प्रमाण निवृत्ति रूप होने से तुच्छ (निःस्वरूप) है। अतएव अज्ञानरूप होने से कैसे प्रमाण हो सकता है ?

वास्तव में पदार्थ के अभाव-अंश से कथंचित् अभिन्न भाव-अंश को जानने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण अभाव-अंश को भी जान ही लेते हैं । इससे अतिरिक्त कुछ ज्ञेय बचता नहीं है, अतएव अभाव विषयशून्य है और विषय-शून्य होने के कारण प्रमाण नहीं है ।।१२।।

४३---प्रमाण के भेद कह कर विशेष लक्षण कहते हैं—विशद—स्पष्टता प्रत्यक्ष प्रमाण है।१३।

४४-सामान्य लक्षण का अनुवाद करकेविशेष लक्षण का विधान किया जाता है,इस न्याय के अनुसार 'सम्यगर्थ-निर्णय' इस सामान्य लक्षण के अनुवाद से ही प्रत्यक्ष के लक्षण का विधान किया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में प्रमाण-सामान्य के लक्षण का अध्याहार समझ ही लेना चाहिए । अतएव यहाँ 'प्रत्यक्ष'पक्ष है, 'विशद सम्यगर्थनिर्णयात्मक' साध्य है और 'प्रत्यक्षत्वात्'

हेतुः । यद्विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकं न भवति न तत् प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षमिति व्यतिरेकी । धर्म्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोष इति चेत्; न; विशेषे धर्मिणि धर्मिसामान्यस्य हेतुत्वात् । तस्य च विशेषनिष्ठत्वेन विशेषेष्वन्वयसम्भवात् । सपक्षे वृत्तिमन्तरेणापि च विपक्षव्यावृत्तिबलाद्गमकत्वमित्युक्तमेव ॥१३॥

४५–अथ किमिदं वैशद्यं नाम ? । यदि स्वविषयग्रहणम्; तत् परोक्षेप्यक्षूणम् । अथ स्फुटत्वम्; तदपि स्वसंविदितत्वात् सर्वविज्ञानां सममित्याशङ्क्याह--

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥१४॥

४६--प्रस्तुतात् प्रमाणाद् यदन्यत् प्रमाणं शब्दलिंगादिज्ञानं तत् प्रमाणान्तरं तन्निरपेक्षता 'वैशद्यम्' । नहि शाब्दानुमानादिवत् प्रत्यक्षं स्वोत्पत्तौ शब्दलिंगादिज्ञानं प्रमाणान्तरमपेक्षते इत्येकं वैशद्यलक्षणम् । लक्षणान्तरमपि 'इदन्तया प्रतिभासो वा' इति, इदन्तया विशेषनिष्ठतया यः प्रतिभासः सम्यगर्थनिर्णयस्य सोऽपि 'वैशद्यम्' । 'वा' शब्दो लक्षणान्तरत्वसूचनार्थः ॥१४॥

यह हेतु है । जो ज्ञान विशद और सम्यक् अर्थनिर्णय रूप नहीं होता वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे परोक्ष प्रमाण । यह केवलव्यक्तिरेकी हेतु है ।

शंका–पक्ष को ही हेतु बनाने से अनन्वय दोष आता है ।

समाधान--नहीं ! प्रत्यक्ष विशेष पक्ष है और प्रत्यक्षसामान्य हेतु है । सभी विशेषों में सामान्य की व्याप्ति होती हैं, अतएव यहाँ अन्वय घटित हो जाता है–अनन्वय दोष नहीं रहता ।

यद्यपि यहाँ सपक्षसत्त्व नहीं है, फिर भी हेतु विपक्षव्यावृत्ति के बल से गमक है । यह बात पहले कही जा चुकी है ।।१३ ।

४५-विशदता का स्वरूप क्या है ? यदि अपने स्वरूप को ग्रहण करना विशदता है तो वह परोक्ष प्रमाण में भी होती है, यदि स्फुटता को विशदता कहा जाय तो वह भी स्वसंवेदी होने से सब प्रमाणों में पाई जाती है । इस आशंका का उत्तर–

अर्थ–अन्य प्रमाण की अपेक्षा न होना अथवा 'यह' इस तरह की प्रतीति होना वैशद्य या विशदता है ।।१४।।

४६-यहाँ प्रस्तुत-प्रत्यक्ष-प्रमाण से भिन्न-अनुमान और आगम प्रमाणान्तर कहे गये हैं । उनकी आवश्यकता न होना विशदता है । जैसे शाब्द प्रमाण को अपनी उत्पत्ति में शब्द ज्ञान की और अनुमान प्रमाण को लिंगज्ञान की अपेक्षा रहती है, उस प्रकार प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती । यह विशदता का एक लक्षण है ।

विशदता का दूसरा लक्षण है 'यह' इस रूप में प्रतिभास' अर्थात् जिस प्रमाण का प्रतिभास 'यह' इस प्रकार विशेष-निष्ठ हो, वह 'विशद' कहलाता है । सूत्र में प्रयुक्त 'वा' शब्द दूसरे लक्षण का सूचक है ।।१४।

४७--अथ मुख्यसांव्यवहारिकभेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य हृदि निधाय मुख्यस्य लक्षणमाह--

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥

४८-'तत्' इति प्रत्यक्षपरामर्शार्थम्, अन्यथानन्तरमेव वैशद्यमभिसम्बध्येत । दीर्घकालनिरन्तरसत्कारासेवितरत्नत्रयप्रकर्षपर्यन्ते एकत्ववितर्काविचारध्यानबलेन निःशेषतया ज्ञानावरणादीनां घातिकर्मणां प्रक्षये सति चेतनास्वभावस्यात्मनः प्रकाशस्वभावस्येति यावत्, स्वरूपस्य प्रकाशस्वभावस्य सत एवावरणापगमेन 'आविर्भावः' आविर्भूतं स्वरूपं मुखमिव शरीरस्य सर्वज्ञानानां प्रधानं 'मुख्यम्' प्रत्यक्षम् । तच्चेन्द्रियादिसाहायकविरहात् सकलविषयत्वादसाधारणत्वाच्च 'केवलम्' इत्यागमे प्रसिद्धम् ।

४९-प्रकाशस्वभावता कथमात्मनः सिद्धेति चेत्; एते ब्रूमः-आत्मा प्रकाशस्वभावः, असन्दिग्धस्वभावत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासावसन्दिग्धस्वभावो यथा घटः, न च तथात्मा, न खलु कश्चिदहमस्मि न वेति सन्दिग्धे इति नासिद्धो हेतुः । तथा, आत्मा प्रकाशस्वभावः, बोद्धृत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासौ

४७-प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है-मुख्य और सांव्यवहारिक, इसे ध्यान में रखकर मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं-

अर्थ-आवरणों का सर्वथा क्षय हो जाने पर चेतन-आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाना मुख्य प्रत्यक्ष है ॥१५॥

४८--सूत्र में 'तत्'शब्द का ग्रहण न किया होता तो इससे पहले कहे हुए'वैशद्य' का ग्रहण हो जाता। दीर्घकालपर्यन्त बहुमान-पूर्वक भलीभाँति सेवन किये हुए रत्नत्रय के प्रकर्ष के 'अन्त में,एकत्व वितर्क-विचारनामक शुक्ल ध्यान के बल से,पूर्ण रूप से ज्ञानावरण आदि घातिक कर्मों का क्षय हो जाने पर, चेतनाप्रकाश-स्वभाव वाले आत्मा का प्रकाश स्वरूप प्रकट हो जाना मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है । जैसे सम्पूर्ण शरीर में मुख प्रधान होता है, उसी प्रकार सर्व ज्ञानों में प्रधान होने से वह मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है । आगम में यह केवलज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह इन्द्रिय आदि सहायकों के विना ही होता है, विश्व के समस्त पदार्थों को जानता है, और असाधारण है ।

४९-शंका-आत्मा प्रकाशस्वभाव है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान-आत्मा प्रकाशस्वभाव है, क्योंकि वह असंदिग्ध स्वभाव वाला है, जो प्रकाशस्वभाव नहीं होता वह असंदिग्ध स्वभाव वाला नहीं होता, जैसे घट । आत्मा असंदिग्ध स्वभाव वाला न हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि मैं हूँ अथवा नहीं हूँ, ऐसा सन्देह किसी को नहीं होता । और-आत्मा प्रकाशस्वभाव है, क्योंकि वह बोद्धा अर्थात् ज्ञापक है, जो प्रकाशस्वभाव नहीं होता वह

बोद्धा यथा घटः, न च न बोद्धात्मेति । तथा, यो यस्याः क्रियायाः कर्त्ता न स तद्विषयो यथा गतिक्रियायाः कर्त्ता चैत्रो न तद्विषयः ज्ञप्तिक्रियायाः कर्त्ता चात्मेति ।

५०-अथ प्रकाशस्वभावत्व आत्मनः कथमावरणम् ?, आवरणे वा सततावरणप्रसङ्गः; नैवम्; प्रकाशस्वभावस्यापि चन्द्रार्कादेरिव रजोनीहाराभ्रपटलादिभिरिव ज्ञानावरणीयादिकर्म्मभिरावरणस्य सम्भवात्, चन्द्रार्कादेरिव च प्रबलपवमानप्रायैर्ध्यानभावनादिभिर्विलयस्येति ।

५१--ननु सादित्वे स्यादावरणस्योपायतो विलयः; नैवम्; अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्, तद्वदेवानादेरपि ज्ञानावरणीयादि--कर्मणः प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः ।

५२--न चामूर्त्तस्यात्मनः कथमावरणमिति वाच्यम्; अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणदर्शनात् ।

५३--अथावरणीयतत्प्रतिपक्षाभ्यामात्मा विक्रियेत न वा ? । किं चातः ? ।

ज्ञापक नहीं होता, जैसे घट । आत्मा ज्ञापक न हो, ऐसा तो है नहीं, अतएव प्रकाशस्वभाव है ।

तथा-जो जिस क्रिया का कर्त्ता होता है, वह उस क्रिया का विषय नहीं होता, जैसे गतिक्रिया का कर्त्ता चैत्र गतिक्रिया का विषय नहीं होता । आत्मा ज्ञप्तिक्रिया का कर्ता है, अतएव उसका विषय नहीं है ।

५०-प्रश्न-आत्मा प्रकाशस्वभाव है तो उस पर आवरण कैसे आ गये ? यदि आ गये हैं तो सदैव क्यों नहीं रहते ?

उत्तर-जैसे चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशशील हैं, फिर भी उन पर रज, नीहार और मेघपटल आदि के द्वारा आवरण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के द्वारा आवरण आ जाते हैं । और जैसे तीव्र वायु के चलने से चन्द्र-सूर्य के आवरण का विलय हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान भावना आदि से आत्मा के आवरण भी नष्ट हो जाते हैं ।

५१-शंका-आवरण सादि हों तो ही उपाय से उनका विलय होना संभव है ।

समाधान-नहीं, अनादिकालीन होने पर भी खार मृत्पुटपाक आदि के द्वारा जैसे स्वर्ण का मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अनादि ज्ञानावरणीय आदि आवरणों का भी, उनके विरोध रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र) के अभ्यास से विनाश होना संभव है ।

५२-शंका-अमूर्त्त आत्मा पर आवरण कैसे हो गये ?

समाधान--जैसे अमूर्त्त चेतनाशक्ति पर मदिरा एवं मदनकोद्रव आदि से आवरण आ जाता है

५३-शंका-आवरणों तथा आवरणों के प्रतिपक्ष-रत्नत्रय आदि के निमित्त से आत्मा में विकार (अन्यथापन) आता है या नहीं ? और उसका परिणाम क्या होता है ? जैसे कि-

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्य. खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥"

इति चेत्; न; अस्य दूषणस्य कूटस्थनित्यतापक्ष एव सम्भवात्, परिणामिनित्यश्चात्मेति तस्य पूर्वापरपर्यायोत्पादविनाशसहितानुवृत्तिरूपत्वात्, एकान्तनित्यक्षणिकपक्षयोः सर्वथार्थक्रियाविरहात्, यदाह--

"अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥" [लघी० २. १]

इति ॥१५॥

५४--ननु प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था । न च मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वतो वा सिद्धौ किञ्चित् प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षं हि रूपादिविषयविनियमितव्यापारं नातीन्द्रियेऽर्थे प्रवर्तितुमुत्सहते । नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षदृष्टलिंगलिंगिसम्बन्धबलो(प) जननधर्मकत्वात्तस्य । आगमस्तु यद्यतीन्द्रियज्ञानपूर्वकस्तत्साधकः; तदेतरेतराश्रयः--

"नर्ते तदागमात्सिध्येन्न च तेनागमो विना ।" [श्लोकवा० सू० २. श्लो० १४२]

इति । अपौरुषेयस्तु तत्साधको नास्त्येव। योऽपि--

चाहे वर्षा हो, चाहे धूप गिरे, (नित्य) आकाश का क्या बिगड़ता है ? उनका प्रभाव चमडे पर होता है । यदि आत्मा चमडे के समान है तो वह अनित्य हो जाएगा और यदि आकाश के समान (नित्य) है तो उस पर न आवरणों का प्रभाव पडेगा, न रत्नत्रय आदि का ।

समाधान--यह दोष कूटस्थ नित्यता मानने पर ही हो सकता है, किन्तु आत्मा तो परिणामी-नित्य है । आत्मा की पूर्व-पूर्व पर्याय का उत्पाद होता रहता है, फिर भी वह द्रव्य से नित्य है। एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक पक्ष में किसी भी प्रकार अर्थक्रिया संगत नहीं हो सकती । कहा भी है—

'अर्थक्रिया वस्तु का लक्षण मानी गई है । अर्थात् यह सर्वमान्य है कि जिसमें अर्थक्रिया पाई जाय वही वस्तु कहलाती है । यह अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पक्ष में न क्रम से घटित होती है, न युगपत् ।'॥१५॥

५४-शंका-प्रमेय की व्यवस्था प्रमाण के अधीन है । मुख्य प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) या मुख्य (केवलज्ञानी) की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष का व्यापार रूप आदि विषयों में ही नियत है । वह अतीन्द्रिय पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं कर सकता । रहा अनुमान, सो वह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लिंग (साधन) और साध्य के संबंध में (अविनाभाव) की सहायता से उत्पन्न होता है । (अतः इन दोनों प्रमाणों से मुख्य प्रत्यक्ष का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता) यदि अतीन्द्रियज्ञानपूर्वक (सर्वज्ञप्रणीत) आगम को मुख्य प्रत्यक्ष का साधक माना जाय तो इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग है क्योंकि ,आगम के बिना मुख्य प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता । और प्रत्यक्षकी सिद्धि हुए विना सर्वज्ञप्रणीत आगम सर्वज्ञ का साधक हो नहीं सकता ।

"अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" [श्वेताश्व० ३. १९.]
इत्यादिः कश्चिदर्थवादरूपोऽस्ति नासौ प्रमाणम् विधावेव प्रामाण्योपगमात्। प्रमाणान्तराणां चात्रानवसर एवेत्याशङ्क्याह–

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ॥१६॥

५५--प्रज्ञाया अतिशयः-तारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणातिशयवदित्यनुमानेन निरतिशयप्रज्ञासिद्धया तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धिः, तत्सिद्धिरूपत्वात् केवलज्ञानसिद्धेः। 'आदि' ग्रहणात् सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् घटवदित्यतो, ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तेश्च तत्सिद्धिः, यदाह--

"धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम् ।" [सिद्धिवि० पृ० ४१३]

'जो हाथों और पैरों से रहित हो कर भी वेगशाली है जो नेत्रहीन होकर भी देखता और श्रोत्रहीन होकर भी श्रवण करता है और जो विश्व का वेत्ता है किन्तु जिसे कोई नहीं जान पाता वही सर्वोत्तम महान् पुरुष है ।'

यह जो आगम है सो केवल अर्थवाद ही है । यह प्रमाण नहीं है । आगम की प्रमाणता विधि (कर्त्तव्य) के विषय में ही मानी गई है ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के लिए सर्वज्ञ या सर्वज्ञता के विषय में कोई अवकाश ही नहीं है । इस आशंका का उत्तर–

अर्थ--प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रान्ति आदि की सिद्धि से केवलज्ञान की सिद्धि होती है ॥१६॥

५५-प्रज्ञा का अतिशय (उत्कर्ष) कहीं विश्रांत हुआ है, क्योंकि वह अतिशय है । प्रत्येक अतिशय की कही न कहीं विश्रान्ति (चरम परिणति) अवश्य होती है, जैसे परिमाण के अतिशय की विश्रान्ति आकाश में हुई है । इस अनुमान प्रमाण से निरतिशय (सर्वोत्कृष्ट) प्रज्ञा की सिद्धि होने से केवलज्ञान की सिद्धि होती है । निरतिशय प्रज्ञा की सिद्धि ही केवलज्ञान की सिद्धि है । सूत्र में प्रयुक्त आदि' शब्द से केवलज्ञान की सिद्धि के लिए यह अनुमान भी समझ लेना चाहिए-सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम-रावण आदि कालव्यवहित) और दूर (मेरु आदि देशव्यवहित) पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं । जो प्रमेय होता है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होता है, जैसे घट । इसके अतिरिक्त ज्योतिषसंबंधी ज्ञान में जो संवाद देखा जाता है, उससे भी केवलज्ञान की सिद्धि होती है । कहा भी है–

'अत्यन्त परोक्ष पदार्थों को भी कोई पुरुष अवश्य जानता है । ऐसा न होता तो ज्योतिर्ज्ञान में जो संवाद देखा जाता है, वह कैसे होता ? कदाचित् कहा जाय कि यह संवाद श्रुत (शास्त्र) से होता है तो उसके लिए भी दूसरे साधन की आवश्यकता है ।'

५६--अपि च-"नोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमेवञ्जातीयकमर्थमवगमयति नान्यत्किञ्चनेन्द्रियम्" [शाबर भा० १.१.२] इति वदता भूताद्यर्थपरिज्ञानं कस्यचित् पुंसोऽभिमतमेव, अन्यथा कस्मै वेदस्त्रिकालविषयमर्थं निवेदयेत् ? । स हि निवेदयंस्त्रिकालविषयतत्त्वज्ञमेवाधिकारिणमुपादत्ते, तदाह-

"त्रिकालविषयं तत्त्वं कस्मै वेदो निवेदयेत् ।
अक्षय्यावरणैकान्तान्न चेद्वेद तथा नरः ।।" [सिद्धिवि० पृ० ४१४A]

इति त्रिकालविषयवस्तुनिवेदनाऽन्यथानुपपत्तेरतीन्द्रियकेवलज्ञानसिद्धिः ।

५७-किञ्च,प्रत्यक्षानुमानसिद्धसंवादं शास्त्रमेवातीन्द्रियार्थदर्शिसद्भावे प्रमाणम्, य एव हि शास्त्रस्य विषयः स्याद्वादः स एव प्रत्यक्षादेरपीति संवादः, तथाहि-

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ।।"

इति दिशा प्रमाणसिद्धं स्याद्वादं प्रतिपादयन्नागमोऽर्हतस्सर्वज्ञतामपि प्रतिपादयति, यदस्तुम-

---

५६-ऐसा माना जाता है कि- वेद भूत वर्त्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथा इसी प्रकार के अन्य सब पदार्थों का ज्ञान कराता है । किसी भी इन्द्रिय से ऐसा ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है ।' ऐसा मानने वाले ने भूत भविष्यत् आदि का ज्ञान किसी पुरुष को अवश्य स्वीकार किया है । यदि किसी पुरुषको त्रैकालिक ज्ञान संभव न होता तो वेद से किसे यह ज्ञान होता ? वेद से जब ऐसा ज्ञान होता है तो किसी त्रिकालज्ञ अधिकारी पुरुष को ही होना चाहिए । कहा भी है-

'यदि आवरणों का क्षय हो ही नहीं सकता और पुरुष को वैसा ज्ञान नहीं हो सकता तो वेद त्रिकालविषयक तत्त्व किसको निवेदन करता है ?

यदि त्रैकालिक ज्ञान संभव न होता तो वेद त्रिकालसंबंधी तत्त्व का निवेदन ही नहीं कर सकता था । परन्तु वेद निवेदन करता है, इससे केवलज्ञान की सिद्धि होती है ।

५७-इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसकी पुष्टि होती है ऐसा शास्त्र ही अतीन्द्रियार्थदर्शी के सद्भाव में प्रमाण है । जो स्याद्वाद शास्त्र का विषय है, वही प्रत्यक्ष आदि का भी विषय है । यही संवाद है । कहा भी है-

'प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है । यदि पररूप से असत्ता न मानी जाय तो प्रत्येक वस्तु सर्वमय हो जाए और स्वरूप से सत्ता न मानी जाय तो वस्तु का कोई स्वरूप ही न रह जाय ।'

इस प्रकार प्रमाण सिद्ध स्याद्वाद का प्रतिपादन करता हुआ आगम अर्हन्त की सर्वज्ञता का भी प्रतिपादन करता है । शास्त्र की स्तुति करते हुए हमने कहा है-

"यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमात्मभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ।"[अयोग० २१]

इति । प्रत्यक्षं तु यद्यप्यैन्द्रियि(य)कं नातीन्द्रियज्ञानविषयं तथापि समाधिबललब्ध-जन्मकं योगिप्रत्यक्षमेव बाह्यार्थस्येव स्वस्यापि वेदकमिति प्रत्यक्षतोऽपि तत्सिद्धिः ।

५८--अथ— "ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्म्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ।।"

इति वचनात्सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु, मानुषस्य तु कस्यचिद्विद्याचरणवतोपि तदसम्भावनीयम्, यत्कुमारिलः--

"अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ?।।" [तत्त्वस० का ३२. ८]

इति; आः! सर्वज्ञापलापपातकिन् ! दुर्वदवादिन् ! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदेशेन देवाधिदेवानधिक्षिपसि? । ये हि जन्मान्तरार्ज्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःखपङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमिकारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामति–

'जिसकी सत्यता के बल से हम आप जैसों का परमात्मत्व समझ पाते हैं, उस कुवासनाओं के पाश का विनाश करने वाले आपके शासन-आगम-को नमस्कार हो ।'

यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान को नहीं जान सकता, तथापि समाधि के बल से उत्पन्न होने वाला योगिप्रत्यक्ष स्वयं ही बाह्य पदार्थों की तरह अपने आपको भी जानता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि होती है ।

५८-शंका-'जिस जगत्पति में अप्रतिहत ज्ञान है,वैराग्य है,ऐश्वर्य है और धर्म है-यह चार धर्म जिसमें स्वभाव से ही सिद्ध हैं (वही सर्वज्ञ ईश्वर है)' इस कथन के अनुसार ईश्वर आदि में सर्वज्ञता भले हो, किन्तु मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता चाहे वह कितना भी विद्यावान् और चारित्रवान् क्यों न हो ! कुमारिल भट्ट ने कहा है–

ज्ञानमय देह वाले होने से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भले सर्वज्ञ हों किन्तु मनुष्य में सर्वज्ञता कैसी ?

समाधान--अरे सर्वज्ञ के अपलाप का पाप करने वाले ! अरे निन्दक ! मनुष्यता की निन्दा करने का बहाना करके देवाधिदेव पर आक्षेप करता है ! जिन्होंने पूर्वजन्मों में विराट् पुण्य का समूह उपार्जन किया है, जो अनुपम देवभव के सुख का उपभोग करके दुःखों के पंक में फँसे सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने के अभिलाषी होकर नरकों में भी क्षणभर के लिए सुखामृत की वर्षा करके मनुष्य लोक में अवतरित हुए हैं, जिनके जन्मते ही आसन चलायमान होने पर सकल सुरेन्द्रों के समूह आकर जन्ममहोत्सव मनाते हैं' किंकर के समान व्यवहार करते हुए देवगण प्राथमिकता के लिए स्पर्धा करते हुए जिनकी सेवा करते हैं, स्वयं प्राप्त अनन्त

प्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमिते- तिमरकादिजगदुपद्रवाः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण आविर्भूतनिखिलभावाभा- वस्वभावावभासिकेवलबलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्मितां समव- सरणभुवमधिष्ठाय स्वस्वभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्तितधर्मतीर्थाश्चतुस्त्रिंशदति- शयमयीं तीर्थनाथत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्मनिर्मोक्षमुपेयिवांस- स्तान्मानुषत्वादिसाधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लेष्ट्वादिना साधारणीकर्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः !। किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेति- समूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्व- वित्त्वसाम्राज्यम् !, यदवदाम स्तुतौ--

> "मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
> पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ।।"
>
> [अयोग--२५]

इति । अथापि रागादिदोषकालुष्यविरहिताः सततज्ञानानन्दमयमूर्तयो ब्रह्मादयः; तर्हि तादृशेषु तेषु न विप्रतिपद्यामहे, अवोचाम हि–

विशाल साम्राज्यश्री को (ऐसे तीर्थंकर भगवान् गृहस्थावस्था के पश्चात्) तृण की तरह त्याग देते हैं,तृण-मणि तथा शत्रु-मित्र पर समभाव धारण करते हैं,अपने प्रभाव से अतिवृष्टि आदि ईतियों तथा महामारी आदि उपद्रवों को शान्त कर देते हैं, शुक्लध्यान रूपी अग्नि से समस्त घातिक कर्मों को भस्म कर देते हैं, समस्त भाव एवं अभाव रूप पदार्थों को जानने वाले केवल- ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जगत के मोह–अज्ञान को नष्ट करते हैं, जो सुरों और असुरों द्वारा निर्मित समवसरण भूमि में विराजमान होकर श्रोताओं को अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाने वाले वचनों से धर्मतीर्थ में प्रवृत्त करते हैं, चौतीस अतिशयमयी तीर्थंकरत्व-लक्ष्मी का उपयोग करके पर ब्रह्म एवं शाश्वत आनन्दमय मोक्ष (घातिकर्मों से मुक्ति) को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान् में मनुष्यत्व आदि सामान्य धर्मों का उल्लेख करके पाये जाने वाले उनका अपवाद करना इसी प्रकार की धृष्टता है जैसे कोई कहे कि पार्थिव होने के कारण सुमेरु गिरि- राज भी मिट्टी के ढेले के समान है !

इस पर तुर्रा यह कि जो निरन्तर वनिता के अंग का संभोग करने के कारण कामुक वृति वाले हैं नाना प्रकारके शस्त्रों को धारण करते हैं,अक्षमाला आदि पर जिनके मन का संयम निर्भर है और इन कारणों से जो राग–द्वेष और मोह से कलुषित हैं ऐसे ब्रह्मा विष्णु महेश के सर्वज्ञ होने की बात कही जाती है ! स्तुति में कहा है–

'जो मद, मान, मदन, क्रोध, लोभ और राग के द्वारा पूरी तरह पराजित हैं ऐसे परकीय देवताओं को (ज्ञानरूपी) लक्ष्मी कहना वृथा ही है !'

हाँ, अगर आप ब्रह्मा आदि को राग-द्वेष के कालुष्य से रहित (वीतराग) और सतत ज्ञानानन्दमय कहें तो ऐसे ब्रह्मा आदि के विषय में हमारा कोई मतभेद नहीं है । हमने कहा भी है

"यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ।।" [अयोग-३१]

इति । केवलं ब्रह्मादिदेवताविषयाणां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासकथानां वैतथ्यमासज्येत । तदेवं साधकेभ्यः प्रमाणेभ्योऽतीन्द्रियज्ञानसिद्धिरुक्ता ।।१६।।

बाधकाभावाच्च ।।१७।।

५९--सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वात् सुखादिवत् तत्सिद्धिः इति सम्बध्यते । तथाहि केवलज्ञानबाधकं भवत् प्रत्यक्षं वा भवेत् प्रमाणान्तरं वा ? । न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य विधावेवाधिकारात्–

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना ।" [श्लोकवा० सू० ४. श्लो० ८४]

इति स्वयमेव भाषणात् ।

६०--अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्बाधकं किन्तु निवर्तमानम् तत्; तर्हि (द्धि) यदि नियतदेशकालविषयत्वेन बाधकं तर्हि सम्प्रतिपद्यामहे । अथ सकलदेशकालविषयत्वेन; तर्हि न तत् सकलदेशकालपुरुषपरिषत्साक्षात्कारमन्तरेण सम्भवतीति सिद्धं

'किसी भी मत-परम्परा में, किसी भी नाम से, किसी भी स्वरूप में कोई भी क्यों न हो, यदि वह दोष-कालुष्य से सर्वथा हीन हो गया है तो वह आप ही हो । भगवन् ! आपको नमस्कार हो ।'

किन्तु ब्रह्मा आदि को वीतराग और सर्वज्ञ मानने से श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास में लिखित उनके संबंध की कथाएँ मिथ्या हो जाएँगी । इस प्रकार साधक प्रमाणों द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का निरूपण किया गया ।।१६।।

अर्थ--बाधक प्रमाण के अभाव से भी अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि होती है ।।१७।।

५९-जैसे सुख के अस्तित्व में बाधक प्रमाण का अभाव भलीभांति निश्चित है,उसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में भी किसी बाधक प्रमाण का न होना निश्चित हैं । केवलज्ञान का बाधक कोई प्रमाण हो तो वह प्रत्यक्ष है या अन्य कोई प्रमाण ? प्रत्यक्ष बाधक हो नहीं सकता, क्योंकि आपके मत से उसका अधिकार विधान करना ही है । निषेध को वह जान नहीं सकता । आपने ही कहा है–चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध और वर्त्तमान वस्तु को ही ग्रहण करती हैं ।

६०-शंका–प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष बाधक नहीं है किन्तु निवर्त्तमान प्रत्यक्ष बाधक है । अर्थात् केवलज्ञानी प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होता, इसी से उसे बाधक मानते हैं ।

–समाधान--यदि अमुक देश और अमुक काल में ही प्रत्यक्ष केवलज्ञान का बाधक है तो हमें भी यह स्वीकार है– इस देश-काल में हम भी उसका अभाव मानते हैं । यदि समस्त देशों और कालों में केवलज्ञान या प्रत्यक्ष से अभाव सिद्ध करना चाहते हो तो समस्त देश काल और पुरुष समूह का साक्षात्कार किये विना ऐसा करना संभव नहीं है । अगर आप सम्पूर्ण देश काल और पुरुष समूह का साक्षात्कार करने का दावा करते हों तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो

नः समीहितम् । न च जैमिनिरन्यो वा सकलदेशादिसाक्षात्कारी सम्भवति सत्त्वपुरुषत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । अथ प्रज्ञायाः सातिशयत्वात्तत्प्रकर्षोऽप्यनुमीयते; तर्हि तत एव सकलार्थदर्शी किं नानुमीयते ?। स्वपक्षे चानुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञाभवे कुतः प्रमाणयेदविशेषात् ? ।

६१--न चानुमानं तद्बाधकं सम्भवति; धर्मिग्रहणमन्तरेणानुमानाप्रवृत्तेः, धर्मिग्रहणे वा तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वादनुत्थानमेवानुमानस्य । अथ विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वाद्वा रथ्यापुरुषवदित्यनुमानं तद्बाधकं ब्रूषे; तदसत्; यतो यदि प्रमाणपरिदृष्टार्थवक्तृत्वं हेतुः; तदा विरुद्धः, तादृशस्य वक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् । अथासद्भूतार्थवक्तृत्वम्; तदा सिद्धसाध्यता, प्रमाणविरुद्धार्थवादिनामसर्वज्ञत्वेनेष्टत्वात् । वक्तृत्वमात्रं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकम् ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात्, प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वक्तृत्वातिशयस्यैवोप-

---

जाता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में आप स्वयं सर्वज्ञ हो जाएँगे । किन्तु जैमिनि या अन्य कोई पुरुष सम्पूर्ण देशादि को साक्षात् करने वाला हो नहीं सकता, क्योंकि वह सत् अथवा पुरुष है। जो सत् या पुरुष होता है वह सकल देश आदि का साक्षात्कर्त्ता नहीं हो सकता, जैसे कि राहगीर । (यह आपका ही मत है ।)

शंका—प्रज्ञा में तरतमता देखी जाती है, अतएव किसी पुरुष में उसके प्रकर्ष का अनुमान भी किया जा सकता है । समाधान—यदि प्रज्ञा के प्रकर्ष का अनुमान करते हो तो सर्वदर्शी का ही अनुमान क्यों नहीं कर लेते ! अपने पक्ष में अनुपलम्भ को प्रमाण नहीं स्वीकार करते तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने में उसे प्रमाण कैसे मान सकते हो ?

६१-अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं हो सकता । धर्मी (पक्ष-प्रस्तुत में सर्वज्ञ) को जाने विना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती । अगर धर्मी सर्वज्ञ-का जान लेना स्वीकार करो तो जिस प्रमाण से धर्मी का ग्रहण किया जाएगा वही प्रमाण सर्वज्ञनिषेधक अनुमान का बाधक हो जाएगा । ऐसी स्थिति में अनुमानबाधित पक्ष होने से अनुमान हो ही नहीं सकता ।

शंका— विवादग्रस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है या क्योंकि वह पुरुष है । जो वक्ता अथवा पुरुष होता है । वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे कोई राहगीर ।' यह अनुमान सर्वज्ञ का बाधक है। समाधान—नहीं है । यहाँ वक्तृत्व का अभिप्राय क्या है ? यदि प्रमाणदृष्ट अर्थों के वक्तृत्व से अभिप्राय हो तो हेतु विरुद्ध है, अर्थात् यह उलटा सर्वज्ञता को सिद्ध करता है, क्योंकि ऐसा वक्तृत्व सर्वज्ञ में ही हो सकता है । अगर असद्भूत अर्थों का वक्तृत्व कहते हो तो वह सिद्ध को ही सिद्ध करता है । प्रमाणविरुद्ध वक्ता को हम भी सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते । यदि वक्तृत्व मात्र को हेतु कहा जाय तो संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक होने से व्यभिचारी है, अर्थात् सामान्य वक्तृत्व सर्वज्ञ में भी पाया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि होने पर वक्तृत्व की हानि नहीं देखी जाती । इसके विपरीत ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वक्तृत्व का उत्कर्ष ही देखा जाता है ।

लब्धेः । एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वं हि यदि रागाद्यदूषितं तदा विरुद्धम्-ज्ञानवैराग्यादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्य सर्वज्ञतामन्तरेणानुपपत्तेः। रागादिदूषिते तु पुरुषत्वे सिद्धसाध्यता । पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमित्यबाधकम् ।

६२--नाप्यागमस्तद्बाधकः तस्यापौरुषेयस्यासम्भवात्; सम्भवे वा तद्बाधकस्य तस्यादर्शनात् । सर्वज्ञोपज्ञश्चागमः कथं तद्बाधकः ?, इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ।।१७।।

६३--न केवलं केवलमेव मुख्यं प्रत्यक्षमपि त्वन्यदपीत्याह--

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ।।१८।।

६४--सर्वथावरणविलये केवलम्, तस्यावरणविलयस्य 'तारतम्ये' आवरणक्षयोपशमविशेषे तन्निमित्तकः 'अवधिः' अवधिज्ञानं 'मनःपर्यायः' मनःपर्यायज्ञानं च मुख्यमिन्द्रियानपेक्षं प्रत्यक्षम् । तत्रावधीयत इति 'अवधिः' मर्यादा, सा च "रूपिष्ववधेः" [तत्त्वा० १.२८] इति वचनात् रूपवद्द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः ।

उपर्युक्त कथन से पुरुषत्व हेतु भी खंडित हो जाता है। यहाँ भी तीन विकल्प हो सकते हैं--(१) रागादि से अदूषित पुरुषत्व (२) रागादि से दूषित पुरुषत्व और (३) पुरुषत्व सामान्य। पहला पक्ष लिया जाय तो हेतु विरुद्ध है, क्योंकि ज्ञान वैराग्य आदि से युक्त पुरुषत्व सर्वज्ञता के विना संभव नहीं है । दूसरे पक्ष में सिद्धसाध्यता है, क्योंकि रागादि से दूषित पुरुष को हम सर्वज्ञ मानते ही नहीं । तीसरे पक्ष में पुरुषत्वसामान्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है, क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ पुरुषत्व का कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का बाधक सिद्ध नहीं होता ।

६२-आगम प्रमाण भी बाधक नहीं है । अपौरुषेय आगम तो कोई हो ही नहीं सकता और मान भी लिया जाय तो वह बाधक दीखता नहीं । सर्वज्ञकृत आगम सर्वज्ञत्व का बाधक हो ही कैसे सकता है ? (असर्वज्ञकृत आगम प्रामाणिक नहीं माना जा सकता) । अब यह चर्चा अधिक नहीं करते ।।१७।।

६३-सिर्फ केवलज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अन्य ज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं, यह बतलाते हैं--

अर्थ--आवरणक्षय का तारतम्य होने पर अवधि और मनःपर्याय ज्ञान होते हैं। वे भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं ।।१८।।

६४-ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है । किन्तु जब आवरण-क्षय का तारतम्य होता है अर्थात् विशिष्ट क्षयोपक्षम होता है तब इन्द्रियों की अपेक्षा न रखने वाला अवधिज्ञान और मनःपर्याय उत्पन्न होता है । यह दोनों ज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं । अवधि अर्थात् मर्यादा से युक्त ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । मर्यादा यह है कि यह ज्ञान रूपी द्रव्यों को ही जानता है । तत्वार्थसूत्र में भी यही कहा है-'रूपी द्रव्यों में ही अवधिज्ञान के विषय का नियम है ।'

स द्वेधा भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च। तत्राद्यो देवनारकाणां पक्षिणामिव वियद्गमनम्। गुणप्रत्ययो मनुष्याणां तिरश्चां च।

६५--मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं 'मनःपर्यायः'। तथावधिमनःपर्यायान्यथानुपपत्त्या तु यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञानं तत् आनुमानिकमेव न मनःपर्यायप्रत्यक्षम्, यदाहुः--

"जाणइ बज्झेणुमाणेणं।" [विशेषा० गा० ८१४]

६६--ननु रूपिद्रव्यविषयत्वे क्षायोपशमिकत्वे च तुल्ये को विशेषोऽवधिमनःपर्याययोरित्याह--

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥१९॥

६७--सत्यपि कथञ्चित्साधर्म्ये विशुद्ध्यादिभेदादवधिमनःपर्यायज्ञानयोर्भेदः। तत्रावधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। यानि हि मनोद्रव्याणि अवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि जानीते।

६८--क्षेत्रकृतश्चानयोर्भेदः--अवधिज्ञानमंगुलस्यासंखेयभागादिषु भवति आ सर्वलोकात्, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति।

यह ज्ञान दो प्रकार का है-भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भव का निमित्त पाकर होने वाला भवप्रत्यय कहलाता है,जैसे पक्षियों का आकाशगमन भव के निमित्त से होता है। इस प्रकार का ज्ञान देवों और नारकों को ही होता है। दूसरा गुणप्रत्यय अवधि मनुष्यों और तिर्यंचों को ही होता है।

६५-द्रव्यमन के, चिन्तन के अनुरूप जो नाना प्रकार के पर्याय होते हैं, उन्हें जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है। 'इस प्रकार के पदार्थ का चिन्तन किये बिना ऐसे पर्याय नहीं हो सकते' ऐसा अविनाभाव का विचार करने से बाह्य चिन्तित पदार्थ का ज्ञान होता है। यह ज्ञान अनुमान है। अभिप्राय यह है कि जैसे-जैसे पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, वैसे वैसे ही मन के पर्याय होते रहते हैं। मनःपर्याय ज्ञान उन्हीं पर्यायों को साक्षात् जानता है। फिर उन पर्यायों के आधार पर अनुमान से घट आदि बाह्य पदार्थों का बोध होता है। बाह्य पदार्थों के इस ज्ञान को मनःपर्यायज्ञान नहीं समझना चाहिए। भाष्य में भी कहा है- 'मनःपर्यायज्ञानी बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है ॥१८॥

६६-शंका--अवधि और मनःपर्याय दोनों ज्ञान रूपी द्रव्यों को ही जानते हैं और दोनों क्षायोपशमिक हैं तो उनमें भेद क्या है ? इस शंका का समाधान--

अर्थ--विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के भेद से दोनों में भेद है ॥१९॥

६७-किसी अपेक्षा से समानता होने पर भी विशुद्धि आदि के भेद से अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान में भेद है। विशुद्धिभेद--अवधिज्ञान से मनःपर्याय ज्ञान अधिक विशुद्ध है। जिन मनोद्रव्यों को अवधिज्ञानी जानता है, उन्हें मनःपर्यायज्ञानी अधिक विशुद्ध रूप से जानता है।

६८-क्षेत्रभेद-अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग आदि क्षेत्र से लगा कर समस्त लोकपर्यन्त

६९–स्वामिकृतोऽपि–अवधिज्ञानं संयतस्यासंयतस्य संयतासंयतस्य च सर्वगतिषु भवति; मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्य प्रकृष्टचारित्रस्य प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु गुणस्थानकेषु भवति। तत्रापि वर्धमानपरिणामस्य नेतरस्य। वर्धमानपरिणामस्यापि ऋद्धिप्राप्तस्य नेतरस्य। ऋद्धिप्राप्तस्यापि कस्यचिन्न सर्वस्येति।

७०-विषयकृतश्च-रूपवद्द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धस्तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य इति। अवसितं मुख्यं प्रत्यक्षम् ॥१९॥

७१–अथ सांव्यवहारिकमाह--

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥२०॥

७२--इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, मनश्च निमित्तं कारणं यस्य स तथा। सामान्यलक्षणानुवृत्तेः सम्यगर्थनिर्णयस्येदं विशेषणं तेन 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' सम्यगर्थनिर्णयः। कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह-'अवग्रहेहावायधारणात्मा'। अवग्रहादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः त आत्मा यस्य सोऽवग्रहेहावायधारणात्मा। 'आत्म' ग्रहणं च क्रमेणोत्पद्यमानानामप्यवग्रहादीनां नात्यन्तिको भेदः किन्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तररूपतया

होता है, अर्थात् जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में स्थित और उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है, जब कि मनःपर्याय ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही होता है अर्थात् अढ़ाई द्वीप में स्थित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के पर्यायों को ही जानता है।

६९-स्वामिभेद–अविधज्ञान संयमी, असंयमी और संयमासंयमी को सर्व गतियों में होता है, मनः पर्यायज्ञान मनुष्य संयत और उत्कृष्ट चारित्रवाले मुनि को ही होता है। वह प्रमत्तसंयत से क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानों में ही पाया जाता है। इनमें भी वर्धमान परिणामवाले को ही होता है अन्य को नहीं। वर्धमान परिणामवालों में से भी ऋद्धिप्राप्त को ही होता है, जो ऋद्धि-सम्पन्न न हो उसे नहीं होता। ऋद्धिप्राप्त में से भी किसी-किसी को होता है, सब को नहीं।

७०-विषयभेद-अविधज्ञान सब रूपी द्रव्यों को जानता है पर उनके सब पर्यायों को नहीं जानता मनःपर्यायज्ञान उनके अनन्तवें भाग को विषय करता है। मुख्य प्रत्यक्ष का निरूपण समाप्त हुआ ।१९।

७१–सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण–

अर्थ–इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है ॥२०॥

७२-आगे कही जाने वाली स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ और मन जिसमें कारण हों वह 'इन्द्रियमनोनिमित्त' कहलाता है। प्रमाण के सामान्य लक्षण का अध्याहार होने से यह विशेषण 'सम्यगर्थ-निर्णय' का समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो सम्यगर्थनिर्णय इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह कारण का निरूपण हुआ। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला है। सूत्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए किया गया है कि-यद्यपि अवग्रह आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं, फिर भी उनमें सर्वथा भेद नहीं है–वे मूलतः अलग–अलग ज्ञान नहीं हैं, बल्कि पूर्व--पूर्व का ही उत्तर--उत्तर रूप में

परिणामादेकात्मकत्वमिति प्रदर्शनार्थम् । समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्प्रयोजनं 'सांव्यवहारिकम्' प्रत्यक्षम् । इन्द्रियमनोनिमित्तत्वं च समस्तं व्यस्तं च बोद्धव्यम् । इन्द्रियप्राधान्यात् मनोबलाधानाच्चोत्पद्यमान इन्द्रियजः । मनस एव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानो मनोनिमित्त इति ।

७३--ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति तत् कस्मान्नोक्तम् ?, इति न वाच्यम्; इन्द्रियजज्ञानस्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियजसुखादिसंवेदनस्य मनःप्रत्यक्षे,योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात् । स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन नोक्तम् ॥२०॥

७४--इन्द्रियेत्युक्तमितीन्द्रियाणि लक्षयति--

स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥२१॥

७५--स्पर्शादिग्रहणं लक्षणं येषां तानि यथासङ्ख्यं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि,तथाहि

परिणमन हो जाता है अर्थात् अवग्रहज्ञान ईहा के रूप में,ईहा अवाय-रूप में और अवाय धारणा के रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार उनमें एकात्मता भी है ।

समीचीन प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार संव्यवहार कहलाता है । संव्यवहार जिसका प्रयोजन हो उसे 'सांव्यवहारिक' कहते हैं । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों को और मन को कारण कहा है,इसका अभिप्राय यह नहीं,कि ये सम्मिलित ही कारण हों-अलग-अलग भी कारण होते हैं और सम्मिलित भी। जिस ज्ञान में इन्द्रियाँ प्रधान और मन गौण रूप से कारण हो,वह इन्द्रियसांव्यवहारिक' कहलाता है और विशुद्धियुक्त मन से ही जो उत्पन्न हो वह 'मनोनिमित्तक' कहलाता है ।

७३-शंका--'स्वसंवेदन' नामक एक प्रत्यक्ष और है । उसे यहाँ क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान-स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है,किन्तु वह इनसे पृथक् नहीं है । इन्द्रियज ज्ञान का स्वसंवेदन इन्द्रियजप्रत्यक्ष में, मनोनिमित्तक ज्ञान का स्वसंवेदन मनोनिमित्तकप्रत्यक्ष में और योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदन का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्गत है। स्मृति आदि ज्ञानों का स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्गत है । इसकारण स्वसंवेदनप्रत्यक्ष को पृथक् नहीं कहा है ॥२०॥

७४-इन्द्रियों का स्वरूप-

अर्थ-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, यह पाँच इन्द्रियाँ हैं । क्रम से स्पर्श, गंध रूप और शब्द को ग्रहण करना लक्षण है । यह पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ॥२१॥

स्पर्श को ग्रहण करना स्पर्शेन्द्रिय का लक्षण है, रस को ग्रहण करना रसनेन्द्रिय का लक्षण है,गंध को ग्रहण करना घ्राणेन्द्रिय का लक्षण है, रूप को ग्रहण करना चक्षुरिन्द्रिय का लक्षण है और शब्द को ग्रहण करना श्रोत्रेन्द्रिय का लक्षण है ।

स्पर्शाद्युपलब्धिः करणपूर्वा क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् । तत्रेन्द्रेण कर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिंगानि वा, कर्ममलीमसस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्थोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि ।

७६--नन्वेवमात्मनोऽर्थज्ञानमिन्द्रियात् लिंगादुपजायमानमानुमानिकं स्यात् । तथा च लिंगापरिज्ञानेऽनुमानानुदयात् । तस्यानुमानात्परिज्ञानेऽनवस्थाप्रसंगः; नैवम्; भावेन्द्रियस्य स्वसंविदितत्वेनानवस्थानवकाशात् । यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिंगान्यात्म--गमकानि इन्द्रियाणि करणस्य वास्यादिवत्कर्त्रधिष्ठितत्वदर्शनात् ।

७७--तानि च द्रव्यभावरूपेण भिद्यन्ते । तत्र द्रव्येन्द्रियाणि नामकर्मोदयनिमित्तानि, भावेन्द्रियाणि पुनस्तदावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमनिमित्तानि । सैषा पञ्चसूत्री स्पर्शग्रहणलक्षणं स्पर्शनेन्द्रियं, रसग्रहणलक्षणं रसनेन्द्रियमित्यादि । सकलसंसारिषु भावाच्छरीरव्यापकत्वाच्च स्पर्शनस्य पूर्वं निर्देशः, ततः क्रमेणाल्पाल्पजीवविषयत्वाद्रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणाम् ।

स्पर्श आदि की उपलब्धि करण के द्वारा ही होती है, क्योंकि वह क्रिया है, प्रत्येक क्रिया करण के द्वारा ही हुआ करती है, जैसे छेदन-क्रिया कुठार के द्वारा होती है । इस प्रकार स्पर्श आदि की उपलब्धि में जो करण है, वही इन्द्रिय है। इन्द्र अर्थात् नाम कर्म के द्वारा जिनका निर्माण हुआ हो वह इन्द्रियाँ । अथवा इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिए जो लिंग-करण हों वह इन्द्रियाँ । कर्मों से मलीन आत्मा स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है । इन्द्रियाँ उसके जानने में निमित्त होती हैं ।

७६-शंका-यदि आत्मा को इन्द्रिय रूप लिंग से पदार्थों का ज्ञान होता है तो वह ज्ञान अनुमान कहलाएगा । और अनुमान की उत्पत्ति लिंग का ज्ञान हुए विना ही नहीं सकती। लिंग का ज्ञान भी यदि अनुमान से माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसंग आता है । अर्थात् लिंग ज्ञानजनक वह अनुमान भी लिंग को जान लेने पर ही होगा और वह लिंग फिर अनुमानान्तर से जाना जाएगा । इस प्रकार कहीं विश्रांति ही नहीं होगी । समाधान–ऐसी बात नहीं है । भावेन्द्रियाँ स्वसंवेदी हैं अर्थात् आप ही अपने को जान लेती हैं, अतएव अनवस्था को कोई अवकाश नहीं है । अथवा इन्द्र अर्थात् आत्मा के जो लिंग हों-जिनसे आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती हो-उन्हें इन्द्रिय कहते हैं । जितने भी वसूला आदि करण हैं वे सब कर्त्ता द्वारा अधिष्ठित होकर ही क्रिया करते हैं । इन्द्रियाँ करण हैं तो वे भी कर्ता से अधिष्ठित होनी चाहिए । वह कर्ता ही आत्मा है । इस प्रकार इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान होता है ।

७७–इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं–द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ, द्रव्येन्द्रियाँ नामकर्म के उदय से बनती हैं । भावेन्द्रियाँ इन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती हैं। स्पर्श को विषय करने वाली स्पर्शनेन्द्रिय है, एवं पाँचों इन्द्रियों के विषय में यथायोग्य समझ लेना चाहिए ।

सर्वप्रथम स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख किया गया है, क्योंकि वह संसार के समस्त जीवों में पाई जाती है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है । तत्पश्चात् क्रम से अल्प-अल्प जीवों को प्राप्त

७८--तत्र स्पर्शनेन्द्रियं तदावरणक्षयोपशमसम्भवं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां शेषेन्द्रियावरणवतां स्थावराणां जीवानाम् । तेषां च "पुढवी चित्तमन्तमक्खाया" [दशवै० ४. १] इत्यादेराप्तागमात्सिद्धिः । अनुमानाच्च--ज्ञानं क्वचिदात्मनि परमापकर्षवत् अपकृष्यमाणविशेषत्वात् परिमाणवत्, यत्र तदपकर्षपर्यन्तस्त एकेन्द्रियाः स्थावराः । न च स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यभावे भस्मादिषु ज्ञानस्यापकर्षो युक्तः । तत्र हि ज्ञानस्याभाव एव न पुनरपकर्षस्ततो यथा गगनपरिमाणादारभ्यापकृष्यमाणविशेषं परिमाणं परमाणौ परमापकर्षवत् तथा ज्ञानमपि केवलज्ञानादारभ्यापकृष्यमाणविशेषमेकेन्द्रियेष्वत्यन्तमपकृष्यते । पृथिव्यादीनां च प्रत्येकं जीवत्वसिद्धिरग्रे वक्ष्यते । स्पर्शनरसनेन्द्रिये कृमि-अपादिका-नूपुरक-गण्डूपद-शंख-शुक्तिका-शम्बूका-जलूकाप्रभृतीनां त्रसानाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राणानि-पिपीलका-रोहणिका-उपचिका-कुन्थु-तुबरक-त्रपुस-बीज-कर्पासास्थिका-शतपदी-अयेनक-तृणपत्र-काष्ठहारकादीनाम् । स्पर्शन-रसन-घ्राण–चक्षूंषि भ्रमर–वटर–सारंग–मक्षिका–पुत्तिका–दंश-मशक-वृश्चिक-नन्द्यावर्त्त–

होने से रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय की अपेक्षा रसनेन्द्रिय कम जीवों को प्राप्त होती है, रसना की अपेक्षा घ्राण और भी कम जीवों को प्राप्त है, इसीप्रकार घ्राण की अपेक्षा चक्षु और चक्षु की अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय कम जीवों को प्राप्त है ।

७८–स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली स्पर्शनेन्द्रिय अकेली उन्हीं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय के स्थावर जीवों को होती है, जिनको शेष-इन्द्रियावरण का उदय है । 'पृथ्वी सचित्त कही गई है' इत्यादि आप्तप्रणीत आगम से स्थावर जीवों की सत्ता सिद्ध होती है ।

अनुमान प्रमाण से भी उनकी सिद्धि होती है, यथा-किसी आत्मा में ज्ञान का परम अपकर्ष (चरम श्रेणी की न्यूनता) है क्योंकि ज्ञान अपकृष्ट होता हुआ देखा जाता है, जैसे परिमाण । अर्थात् जैसे परिमाण का परम प्रकर्ष आकाश में है, फिर अनुक्रम से लोकाकाश, मध्यलोक, जंबूद्वीप आदि में कम होता-होता परमाणु में सब से कम है, इसी प्रकार ज्ञान का परम प्रकर्ष सर्वज्ञ में है, फिर अनेक जीवों में कम होते-होते कहीं सब से कम है । जिन जीवों में सब से कम ज्ञान है अर्थात् ज्ञान का परम अपकर्ष है, वही स्थावर कहलाते हैं । शंका--स्पर्शनेन्द्रिय के भी अभाव में भस्म आदि में ज्ञान का अपकर्ष देखा जाता है । समाधान--भस्म आदि में ज्ञान का अपकर्ष (कमी) नहीं है, वहाँ तो उसका सर्वथा अभाव ही है । पृथ्वीकाय आदि जीव हैं, यह आगे कहेंगे । स्पर्शन और रसना, यह दो इन्द्रियाँ कृमि, अपादिका, नूपुरक, गण्डूपद, शंख, शुक्ति, शम्बूका, जलौका आदि त्रस जीवों में पाई जाती हैं । स्पर्शन, रसना और घ्राण, यह तीन इन्द्रियाँ पिपीलिका, रोहणिका, उपचिका, कुन्थु, तुबरक, त्रपुस, बीज, कर्पासास्थिका, शतपदी, अयेनक, तृणपत्र, काष्ठहारक आदि जीवों में होती हैं । स्पर्शन, रसना घ्राण और चक्षु, यह चार इन्द्रियाँ भ्रमर, वटर, सारंग, मक्षिका, पुत्तिका, दंश, मशक, नन्द्यावर्त्त, (क्षुद्र जन्तु विशेष)

कीटक-पतंगादीनाम्। सह श्रोत्रेण तानि मत्स्य-उरग-भुजग-पक्षि-चतुष्पदानां तिर्यग्योनिजानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानामिति।

७९--ननु वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दहेतवो वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणान्यपीन्द्रियाणीति सांख्यास्तत्कथं पञ्चैवेन्द्रियाणि ?; न; ज्ञानविशेषहेतूनामेवेहेन्द्रियत्वेनाधिकृतत्वात्, चेष्टाविशेषनिमित्तत्वेनेन्द्रियत्वकल्पनायामिन्द्रियानन्त्यप्रसंगः, चेष्टाविशेषाणामनन्तत्वात्, तस्माद् व्यक्तिनिर्देशात् पञ्चैवेन्द्रियाणि।

८०-तेषां च परस्परं स्यादभेदो द्रव्यार्थादेशात्, स्याद्भेदः पर्यायार्थादेशात्, अभेदैकान्ते हि स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादेरपि ग्रहणप्रसंगः। तथाचेन्द्रियान्तरकल्पना वैयर्थ्यम्, कस्यचित् साकल्ये वैकल्ये वान्येषां साकल्यवैकल्यप्रसंगश्च। भेदैकान्तेऽपि तेषामेकत्र सकल(सङ्कलन)ज्ञानजनकत्वाभावप्रसंगः सन्तानान्तरेन्द्रियवत्। मनस्तस्य जनकमिति चेत्; न; तस्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वाभावात्। इन्द्रियापेक्षं मनोऽनुसन्धानस्य जनकमिति चेत्; सन्तानान्तरेन्द्रियापेक्षस्य कुतो न जनकत्वमिति वाच्यम्?। प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्; अत्र का प्रत्यासत्तिरन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात्?,

---

कीट, पतंग आदि में होती हैं श्रोत्रसहित पाँचों इन्द्रियाँ मत्स्य, उरग, भुजग, पक्षी, चतुष्पद आदि तिर्यंचों में तथा समस्त नारकों, मनुष्यों और देवों में होती हैं।

७९-शंका-वचन, आदान, विहरण, मलोत्सर्ग और आनन्द का कारण वाक् पाणि, पाद पायु और उपस्थ-नामक पाँच इन्द्रियाँ और हैं, यह सांख्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में पाँच ही इन्द्रियाँ क्यों? समाधान-ऐसा न कहो। जो किसी विशिष्ट ज्ञान का कारण है, यहाँ उन्हीं को इन्द्रिय माना गया है। चेष्टा-विशेष के हेतुओं को यदि इन्द्रिय मान लें तो इन्द्रियाँ अनन्त हो जाएँगी, क्योंकि चेष्टाएँ अनन्त होती हैं। अतएव विशेष-निर्देश से इन्द्रियाँ पाँच ही हैं।

८०-पाँचों इन्द्रियाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अभिन्न हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भिन्न हैं। उनमें यदि एकान्त अभेद माना जाय तो जैसे स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है उसी प्रकार उससे रस आदि का भी ग्रहण होना चाहिए। जब एक ही इन्द्रिय सभी विषयों की ग्राहक हो जाएगी तो दूसरी इन्द्रियों को मानना वृथा ही ठहरेगा। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय की पूर्णता होने पर सब की पूर्णता और एक की विकलता में सभी की विकलता हो जाएगी। इन्द्रियों का एकान्त भेद माना जाय तो जैसे भिन्न-भिन्न पुरुषों की इन्द्रियाँ किसी एक विषय में संकलनज्ञान (जोड़रूप ज्ञान) उत्पन्न नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार एक पुरुष की इन्द्रियाँ भी नहीं कर सकेंगी। (मैंने देखा भी है, सूंघा भी है, चखा भी है, छुआ भी है, इस प्रकार के संकलनज्ञान से उनकी अभिन्नता भी सिद्ध होती है।)-शंका-यह संकलनज्ञान मन से होता है। समाधान-नहीं, इन्द्रियनिरपेक्ष मन उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। -शंका-इन्द्रियों की सहायता से मन संकलनज्ञान उत्पन्न करता है। समाधान-तो दूसरे पुरुष की इन्द्रियों की सहायता से दूसरे पुरुष का मन क्यों नहीं अनुसन्धान करता? शंका--उनका उसके साथ सम्बंध नहीं है। समाधान-तो एक ही पुरुष की इन्द्रियों में एकद्रव्यतादात्म्य के अतिरिक्त अन्य क्या संबंध है?

प्रत्यासत्त्यन्तरस्य च व्यभिचारादिति । एतेन तेषामात्मना भेदाभेदैकान्तौ प्रतिव्यूढौ । आत्मना करणानामभेदैकान्ते कर्तृत्वप्रसंगः,आत्मनो वा करणत्वप्रसंगः, उभयोरुभयात्मकत्वप्रसंगो वा,विशेषाभावात् । ततस्तेषां भेदैकान्ते चात्मनः करणत्वाभावः सन्तानान्तरकरणवद्विपर्ययो वेति प्रतीतिसिद्धत्वाद्बाधकाभावाच्चानेकान्त एवाश्रयणीयः ।

८१--द्रव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलद्रव्येभ्यश्च भेदाभेदद्वारानेकान्त एव युक्तः,पुद्गलद्रव्यार्थादेशादभेदस्य पर्यायार्थादेशाच्च भेदस्योपपद्यमानत्वात् ।

८२--एवमिन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि द्रव्यपर्यायरूपतया भेदाभेदात्मकत्वमवसेयम्, तथैव निर्बाधमुपलब्धेः । तथा च न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वेन्द्रियविषय इति स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च द्रष्टव्यम् ॥२१॥

८३–'द्रव्यभावभेदानि' इत्युक्तं तानि क्रमेण लक्षयति–

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥२२॥

दूसरा संबंध मानने में बाधा आती है । तात्पर्य यह है कि एक पुरुष की पाँचों इन्द्रियाँ एक–द्रव्यतादात्म्य से सम्बद्ध हैं । यही उनका अभेद है ।

यह तो इन्द्रियों के पारस्परिक भेद-अभेद की बात हुई । इससे आत्मा के साथ उनकी सर्वथा भिन्नता या सर्वथा अभिन्नता भी खंडित हो जाती है । यदि आत्मा से इन्द्रियों का एकान्त अभेद माना जाय तो या तो आत्मा की तरह इन्द्रियों को भी कर्त्ता मानना पडेगा या इन्द्रियों की तरह आत्मा को भी करण मानना होगा, अथवा दोनों ही दोनों रूपों में स्वीकार करना होगा । आत्मा को कर्त्ता और इन्द्रियों को करण मानते हुए भी दोनों में सर्वथा अभेद कहना असंगत है। इसके विपरीत, यदि इन्द्रियों का आत्मा से एकान्त भेद मान लिया जाय तो दूसरे की इन्द्रियों के समान अपनी कहलाने वाली इन्द्रियाँ भी करण नहीं हो सकेंगी । अथवा विपर्यय हो जाएगा- पराई इन्द्रियाँ करण हो जाएँ और अपनी इन्द्रियाँ करण न हों (आत्मा से इन्द्रियों का सर्वथा पार्थक्य होने पर अपनी-पराई इन्द्रियों में कोई विशेषता तो होगी नहीं) अतएव भेदाभेद के विषय में अनेकान्त का ही आश्रय लेना जाहिए, क्योंकि ऐसी ही प्रतीति होती है और उसमें कोई बाधा भी नहीं है ।

८१–जिन पुद्गलद्रव्यों से द्रव्येन्द्रियाँ निर्मित होती हैं, वे परस्पर कथंचित् भिन्न-अभिन्न हैं । उनमें द्रव्य की अपेक्षा अभेद और पर्याय की अपेक्षा भेद की सिद्धि होती है ।

८२–इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय स्पर्श आदि भी द्रव्य की अपेक्षा अभिन्न और पर्याय की अपेक्षा भिन्न हैं । ऐसी ही निर्बाध प्रतीति होती है। अतएव इन्द्रियों का विषय न अकेला द्रव्य है, न अकेला पर्याय है । स्पर्श आदि शब्द कर्मसाधन हैं और भाव-साधन भी हैं । अर्थात् जिसे छुआ जाय वह स्पर्श कहलाता है और छूना भी स्पर्श कहलाता है ॥२१॥

द्रव्य और भाव ये दो भेद (इन्द्रियों के) कहे हैं । अब उनको क्रमशः बताते हैं—

८३-द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप–(अर्थ) नियत आकार वाले पुद्गल द्रव्येन्द्रिय कहलाते हैं।२२।

८४--'द्रव्येन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । नियतो विशिष्टो बाह्य आभ्यन्तरश्चाकारः संस्थानविशेषो येषां ते 'नियताकाराः' पूरणगलनधर्माणः स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः 'पुद्गलाः', तथाहि श्रोत्रादिषु यः कर्णशष्कुलीप्रभृतिर्बाह्यः पुद्गलानां प्रचयो यश्चाभ्यन्तरः कदम्बगोलकाद्याकारः स सर्वो द्रव्येन्द्रियम्, पुद्गलद्रव्यरूपत्वात् । अप्राधान्ये वा द्रव्यशब्दो यथा अंगारमर्द्दको द्रव्याचार्य इति। अप्रधानमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम्, व्यापारवत्यपि तस्मिन् सन्निहितेऽपि चालोकप्रभृतिनि सहकारिपटले भावेन्द्रियं विना स्पर्शाद्युपलब्ध्यसिद्धेः ॥२२॥

भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥२३॥

८५--लम्भनं 'लब्धिः' ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामविशेष उपयोगः। अत्रापि 'भावेन्द्रियम्' इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । भावशब्दोऽनुपसर्जनार्थः। यथैवेन्दनधर्मयोगित्वेनानुपचरितेन्द्रत्वो भावेन्द्र उच्यते तथैवेन्द्रलिंगत्वादिधर्मयोगेनानुपचरितेन्द्रलिंगत्वादिधर्मयोगि 'भावेन्द्रियम्' ।

८४--सूत्र में सामान्य की अपेक्षा 'द्रव्येन्द्रियम्' यह एकवचनतान्त प्रयोग किया है । जिनका भीतरी या बाहरी आकार एक विशेष प्रकार का हो, उन्हें 'नियताकार' कहते हैं । जो पूरण और गलन अर्थात् मिलने एवं बिछुडने के स्वभाववाला है वह रूप, रस, गंध और वर्णवाला द्रव्य 'पुद्गल' कहलाता है । जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियों में कर्णशष्कुली आदि जो बाह्य आकार है। और कदम्बगोलक आदि आभ्यन्तर आकार है, वह सब पुद्गल द्रव्यमय होने के कारण द्रव्येन्द्रिय है । जो प्रधान न हो वह भी 'द्रव्य' कहलाता है, जैसे अंगारों को कुचलने वाला आचार्य 'द्रव्याचार्य' कहलाता है । इस व्याख्या के अनुसार अप्रधान इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय कहलाती है । द्रव्येन्द्रिय की अप्रधानता का कारण यह है कि उसकी प्रवृत्ति होने पर भी और आलोक आदि सहकारी कारणों के विद्यमान होने पर भी भावेन्द्रिय के विना स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं होता ।।२।।

भावेन्द्रिय का स्वरूप-(अर्थ) लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय हैं ।।२३।।

८५--ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशयविशेष को 'लब्धि' कहते हैं। जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति के प्रति व्यापार करता है उसके निमित्त से होने वाला आत्मा का विशिष्ट परिणमन 'उपयोग कहलाता है । 'भावेन्द्रियम् यह एक वचन यहाँ भी सामान्य की अपेक्षा से प्रयोग किया गया है । 'भाव' शब्द प्रधानता का वाचक है । जैसे इन्दन (ऐश्वर्यभोग) रूप क्रिया के पाये जाने के कारण जिसमें इन्द्रत्व प्रधान वास्तविक है, उसे 'भावेन्द्र' कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रलिंगत्व आदि धर्म के योग से जिसमें इन्द्रलिंगत्व प्रधान-वास्तविक है, उसे भावेन्द्रिय' कहते हैं । तात्पर्य यह है-पहले कहा जा चुका है कि इन्द्र (आत्मा) के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। यह व्युत्पत्ति मुख्य रूप से जिस इन्द्रिय में घटित होती है, वही भावेन्द्रिय कहलाती है ।

८६–तत्र लब्धिस्वभावं तावदिन्द्रियं स्वार्थसंवित्तावात्मनो योग्यतामादधद्भावेन्द्रियतां प्रतिपद्यते। नहि तत्रायोग्यस्य तदुत्पत्तिराकाशवदुपपद्यते स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिरिति। उपयोगस्वभावं पुनः स्वार्थसंविदि व्यापारात्मकम्। नह्यव्यापृतं स्पर्शनादिसंवेदनं स्पर्शादि प्रकाशयितुं शक्तम्, सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशकत्वप्राप्तेः।

८७–स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिन्द्रियत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; कारणधर्मस्य कार्येऽनुवृत्तेः। नहि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते। न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येन्द्रियत्वम्, तेनैव फलत्वमिष्यते येन विरोधः स्यात्। साधकतमस्वभावेन हि तस्येन्द्रियत्वं क्रियारूपतया च फलत्वम्। यथैव हि प्रदीपः प्रकाशात्मना प्रकाशयतीत्यत्र साधकतमः प्रकाशात्मा करणम्, क्रियात्मा फलम्, स्वतन्त्रत्वाच्च कर्त्तेति सर्वमिदमनेकान्तवादे न दुर्लभमित्यलं प्रसंगेन ॥२३॥

८८--'मनोनिमित्तः' इत्युक्तमिति मनो लक्षयति--

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥२४॥

८६-लब्धि-इन्द्रिय आत्मा में स्व–परज्ञान की शक्ति उत्पन्न करती है। अतएव वह भावेन्द्रिय कहलाती है। स्व और पर के संवेदन की शक्ति ही जिसमें न हो, उसमें आकाश की तरह स्व-परसंवेदन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और स्व--परसंवेदन की शक्ति ही लब्धि कहलाती है। उपयोग रूप भावेन्द्रिय स्व-परसंवेदन में व्यापारात्मक होती है। क्योंकि जब तक स्पर्श आदि संवेदन का व्यापार नहीं होगा तब तक वह स्पर्श आदि को जान भी नहीं सकेगा। यदि व्यापार के विना ही ज्ञान उत्पन्न होने लगे तो गहरी निद्रा में सोये पुरुष को भी स्व-पर-संवेदन हो!

८७-शंका–अपने और पदार्थ के प्रकाशन में व्यापृत संवेदन को उपयोग मानेंगे तो उसे इन्द्रिय नहीं कह सकते। वह तो फल (कार्य) है, उसे इन्द्रिय (करण) कैसे कहा जा सकता है? समाधान–ऐसा न कहिए। कारण का धर्म कार्य में भी आता है। अग्नि प्रकाशक है तो उसका कार्य दीपक प्रकाशक न हो, ऐसी बात तो नहीं है। उपयोग जिस स्वभाव से इन्द्रिय है, उसी स्वभाव से फल भी है, ऐसा हम नहीं मानते, जिसमें परस्पर विरोध हो। उपयोग साधकतम होने से इन्द्रिय है और क्रियारूप होने से फल भी है। जैसे 'दीपक अपने प्रकाशस्वभाव से प्रकाशता है' यहाँ दीपक का प्रकाशस्वभाव करण है और प्रकाशना क्रियारूप फल है। साथ ही दीपक स्वतत्र होने से कर्त्ता भी है। इस प्रकार की योजना अनेकान्त वाद में दुर्लभ नहीं है। इस को यहीं समाप्त करते हैं। २३॥

८८--सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में मन को भी निमित्त कहा था, अतः उसका स्वरूप बतलाते हैं--(अर्थ) सर्व अर्थ जिसके द्वारा ग्रहण किये जाएँ वह मन कहलाता है ॥२४॥

८९--सर्वे न तु स्पर्शनादीनां स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्तेऽनेनेति 'सर्वार्थग्रहणं मनः' 'अनिन्द्रियम्' इति 'नोइन्द्रियम्' इति चोच्यते। सर्वार्थं मन इत्युच्यमाने आत्मन्यपि प्रसंग इति करणत्वप्रतिपादनार्थं 'ग्रहणम्' इत्युक्तम्। आत्मा तु कर्त्तेति नातिव्याप्तिः, सर्वार्थग्रहणं च मनसः प्रसिद्धमेव। यत् वाचकमुख्यः "श्रुत--मनिन्द्रियस्य।" [तत्त्वा॰ २. २२] श्रुतमिति हि विषयिणा विषयस्य निर्देशः। उपलक्षणं च श्रुतं मतेः तेन मतिश्रुतयोर्यो विषयः स मनसो विषय इत्यर्थः। "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" तत्त्वा॰ १.२७] इति वाचकवचनान्मतिश्रुतज्ञानयोः सर्वविषय-त्वमिति मनसोऽपि सर्वविषयत्वं सिद्धम्।

९०--मनोऽपि पंचेन्द्रियवद् द्रव्यभावभेदात् द्विविधमेव। तत्र द्रव्यमनो मन-स्त्वेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि। भावमनस्तु तदावरणीयकर्मक्षयोपशमात्मा लब्धि-रात्मनश्चार्थग्रहणोन्मुखो व्यापारविशेष इति ॥२४॥

९१--नन्वत्यल्पमिदमुच्यते 'इन्द्रियमनो निमित्तः' इति। अन्यदपि हि चक्षुर्ज्ञानस्य निमित्तमर्थ आलोकश्चास्ति, यदाहुः--

"रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रजायते।
विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्य इवानलः॥"

८९-जैसे स्पर्शनेन्द्रिय केवल स्पर्श को ग्रहण करती है, इसी प्रकार नियत पदार्थ ही जिसके द्वारा ग्रहण न किये जाएँ, किन्तु समस्त पदार्थ ग्रहण किये जाएँ वह मन, अनिन्द्रिय और नोइन्द्रिय कहलाता है। 'सर्वार्थग्रहणं मनः' के बदले 'सर्वार्थं मनः' ऐसा कहा होता तो यह लक्षण आत्मा में भी चला जाता। 'ग्रहण' शब्द का ग्रहण करके यह सूचित किया गया है कि मन करण है। आत्मा कर्त्ता है, अतएव उसमें इस लक्षण का प्रसंग नहीं होता। मन सभी पदार्थों को जानने में करण होता है, यह प्रसिद्ध ही है। उमास्वाति ने कहा है-'श्रुतमनिन्द्रियस्य।' यहाँ विषयी के द्वारा विषय का निर्देश किया गया है। 'श्रुत' शब्द मतिज्ञान का उपलक्षण है। अभिप्राय यह हुआ कि मति और श्रुतज्ञान का जो विषय है वही मन का विषय है। 'मति श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी द्रव्यों को किन्तु उनकी असम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं, इस कथन के अनुसार जब मति-श्रुतज्ञान सर्वविषयक हैं तो मन भी सर्वविषयक सिद्ध हुआ।

९०--पाँचों इन्द्रियों के समान मन भी दो प्रकार का है--द्रव्यमन और भावमन। मन रूप से परिणत हुए पुद्गलद्रव्यों को द्रव्यमन कहते हैं। मन को आवृत करने वाले कर्म का क्षयोप-शम होना लब्धि भावमन है और आत्मा का अर्थ ग्रहण की ओर होने वाला व्यापार उपयोग-भावमन है ॥२४॥

९१--शंका--आपने इन्द्रिय और मन को कारण बतलाकर अधूरे कारण बतलाए हैं। चाक्षुष ज्ञान में अर्थ और आलोक भी कारण होते हैं। कहा भी है--जैसे मणि, सूर्य किरण और छाने रूप अनेक कारणों से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार रूप, आलोक, मन और नेत्र से ज्ञान

इत्यत्राह--

नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥

९२--बाह्यो विषयः प्रकाशश्च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणम्, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते, ज्ञानावरणादिक्षयोपशमसामग्र्यामारादुपकारित्वेनांजनादिवच्चक्षुरुपकारित्वेन चाभ्युपगमात्। कुतः पुनः साक्षान्न कारणत्वमित्याह--'अव्यतिरेकात्' व्यतिरेकाभावात्। न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम्, अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि। न चासावर्थालोकयोर्हेतुभावेऽस्ति; मरुमरीचिकादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानस्य, वृषदंशादीनां चालोकाभावेऽपि सान्द्रतमतमःपटलविलिप्तदेशगतवस्तुप्रतिपत्तेश्च दर्शनात्। योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्? । निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः।

९३-न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वम्, प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वदर्शनात्। ईश्वरज्ञानस्य च नित्यत्वेनाभ्युपगतस्य कथमर्थ-

की उत्पत्ति होती है। इस शंका का समाधान--(अर्थ) अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि व्यतिरेक घटित नहीं होता ॥२५॥

९२--बाह्य विषय और प्रकाश चाक्षुष ज्ञान में साक्षात् कारण नहीं हैं। परन्तु देश और काल की भाँति परम्परा कारण होने का यहाँ निषेध नहीं किया गया है। जैसे अंजन आदि पदार्थ नेत्र का उपकार करते हैं, उसी प्रकार बाह्य विषय और आलोक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशय की सामग्री में दूर से उपकारक होते हैं। प्रश्न--वे साक्षात् कारण क्यों नहीं हैं ? उत्तर--ज्ञान के साथ उनका व्यतिरेक नहीं बनता। अमुक के होने पर ही अमुक का होना (जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना)अन्वय कहलाता है और न होने पर न होना (जैसे अग्नि के न होने पर धूम का न होना) व्यतिरेक कहा जाता है। कार्यकारण भावका निश्चय अकेले अन्वय से ही नहीं होता किन्तु व्यतिरेक से भी होता है। अर्थात् जिसके होने पर ही कार्य हो और जिसके अभाव में कार्य न हो, वही उस कार्य के प्रति कारण कहलाता है अर्थ और आलोक को कारण मानने में व्यतिरेक घटित नहीं होता, क्योंकि मृगतृष्णा में जलके अभाव में भी जल का ज्ञान हो जाता है और सर्प, बिल्ली, उलूक आदि को आलोक के अभाव में भी सघन अंधकार से व्याप्त प्रदेश में वस्तु का ज्ञान होता देखा जाता है। और योगी जन अतीतकालीन और अनागतकालीन पदार्थों को जानते हैं, वहाँ अर्थ कैसे निमित्त हो सकता है ? यदि अतीत-अनागत काल के पदार्थों को ज्ञान का निमित्त मान लिया जाय तो वे अर्थक्रिया-जनक होने से सत् (विद्यमान) कहलाएँगे, अतीत और अनागत नहीं रह जाएँगे।

९३-यह आवश्यक नहीं कि प्रकाश्य से उत्पन्न हो कर ही प्रकाशक प्रकाशक कहलाए। दीपक आदि घट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनके प्रकाशक देखे जाते हैं। ईश्वर का ज्ञान नित्य माना जाता है, वह अर्थजनित नहीं हो सकता। तथापि अर्थों का प्रकाशक तो होता ही है।

जन्यत्वं नाम ? । अस्मदादीनामपि जनकस्यैव ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसंगः । येषां चैकान्तक्षणिकोऽर्थो जनकश्च ग्राह्य इति दर्शनम् तेषामपि जन्यजनकयोर्ज्ञानार्थयोर्भिन्नकालत्वान्न ग्राह्यग्राहकभावः सम्भवति । अथ न जन्यजनकभावातिरिक्तः सन्दंशायोगोलकवत् ज्ञानार्थयोः कश्चिद् ग्राह्यग्राहकभाव इति मतम्,

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्"[प्रमाणवा० ३.२४७]

इति वचनात्; तर्हि सर्वज्ञज्ञानस्य वार्तमानिकार्थविषयत्वं न कथञ्चिदुपपद्यते वार्तमानिकक्षणस्याजनकत्वात् अजनकस्य चाग्रहणात् । स्वसंवेदनस्य च स्वरूपाजन्यत्वे कथं ग्राहकत्वं स्वरूपस्य वा कथं ग्राह्यत्वमिति चिन्त्यम् । तस्मात् स्वस्वसामग्रीप्रभवयोर्दीपप्रकाशघटयोरिव ज्ञानार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्भवान्न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थालोकयोरिति स्थितम् ।

जो पदार्थ ज्ञान का जनक होता है वही उस ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होता है,ऐसा नियम स्वीकार कर लिया जाय तो हमारे स्मरण और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि इनकी उत्पत्ति ग्राह्य पदार्थ से नहीं होती । बौद्धमत के अनुसार पदार्थ एकान्ततः क्षणविनश्वर है और ज्ञान का जनक पदार्थ ही ग्राह्य होता है । परन्तु जन्य और जनक का समय भिन्न-भिन्न होता है ऐसी स्थिति में उनमें ग्राह्य-ग्राहक भाव किस प्रकार हो सकेगा ?

शंका–जैसे संडासी और लोहे के गोले में ग्राह्य-ग्राहकभाव संबंध है, इस प्रकार का कोई अलग ग्राह्य-ग्राहकभाव पदार्थ और ज्ञान में नहीं है । जन्यजनकसंबंध ही ज्ञान और पदार्थ का ग्राह्य-ग्राहक संबंध है । कहा भी है- 'भिन्नकालवर्त्ती पदार्थ ज्ञान के द्वारा किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ?"इसका उत्तर यह है कि पदार्थ का ज्ञान के प्रति कारण होना ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होना कहलाता है । पदार्थ अपना आकार ज्ञान को अर्पित करता है अर्थात् अर्थ के आकार का हो जाता है और ज्ञान का अर्थाकार हो जाना ही अर्थग्राहक होता है । समाधान–यदि ज्ञान-जनक होना ही ज्ञानग्राह्य होता है तो सर्वज्ञ का ज्ञान वर्त्तमानकालीन पदार्थों को किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं कर सकेगा, क्योंकि वर्तमानकालीन पदार्थ ज्ञानका जनक नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता । इसके अतिरिक्त स्वसंवेदन(अपने ही स्वरूप को जाननेवाला)ज्ञान अपने आपसे उत्पन्न न होने के कारण अपना ग्राहक कैसे हो सकेगा?ज्ञानका स्वरूप ग्राह्य कैसे होगा? इन बातों पर आपको विचार करना चाहिए । अतएव जैसे दीपक अपने कारणों से उत्पन्न होता है और घट अपने कारणों से; फिर भी उनमें प्रकाश्य-प्रकाशकपन होता है, उसी प्रकार अपने अपने कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान और पदार्थ में भी प्रकाश्य-प्रकाशकभाव हो सकता है अर्थात् जैसे यह आवश्यक नहीं कि घटसे उत्पन्न हो कर ही दीपक घट को प्रकाशित करे, उसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि पदार्थ से उत्पन्न हो कर ही ज्ञान पदार्थ को प्रकाशित करे । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पदार्थ और आलोक ज्ञानके साक्षात् कारण नहीं हैं ।

९४--नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था?, तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते, तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात्; नैवम्; तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः। तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्याश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः। तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसंगात्। अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यमित्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साभ्युपेया। अतः--

"अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्"[प्रमाण वा० ३.३०५]

इति यत्किंचिदेतत्।

९५-अपि च व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम्। यदि व्यस्ते; तदा कपाला-

---

९४-प्रश्न-यदि ज्ञान को पदार्थजन्य न माना जाय तो प्रतिनियत विषयव्यवस्था कैसे होगी ? तदुत्पत्ति और तदाकारता से वह व्यवस्था ठीक बैठती है। अर्थात् यदि इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय कि ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है और जिस पदार्थ के आकार का होता है, उसी को जानता है- अन्य पदार्थ को नहीं जानता, तो घटज्ञान घट को ही जानता है, अन्य पदार्थ को नहीं ? ऐसी व्यवस्था संगत हो जाती है। किन्तु ज्ञान यदि किसी भी पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता और किसी के भी आकार का नहीं होता तो वह सभी पदार्थों के लिये समान है। अतएव जाने तो सभी को जाने और न जाने तो किसी को न जाने। किसी नियत पदार्थ को जाने और दूसरों को न जाने, यह कैसे हो सकता है ?

समाधान-तदुत्पत्ति के विना भी आवरणक्षयोपशम रूप योग्यता के द्वारा ही ज्ञान नियत-नियत पदार्थों का प्रकाशक होता है। तदुत्पत्ति मानने पर भी योग्यता तो स्वीकार करनी ही पडेगी, अन्यथा समस्त पदार्थों का सान्निध्य होने पर भी अमुक ही पदार्थ से अमुक ही ज्ञान की जो उत्पत्ति होती है, यह विभाग किस आधार पर होगा ? अर्थात् घटपदार्थ से घट-ज्ञान ही उत्पन्न हो, ऐसा नियम किस प्रकार सिद्ध होगा ? इसके लिए तो योग्यता का ही आश्रय लेना पडेगा। रह गई तदाकारता, सो उसका अर्थ यदि यह है कि पदार्थ का आकार ज्ञान में चला जाता है तो यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। ऐसा मानने से पदार्थ निराकार हो जाएगा। फिर मूर्त पदार्थ के साथ अमूर्त ज्ञानका क्या सादृश्य है ? अतः ज्ञान जब किसी पदार्थ को ग्रहण करता है तो उसमें उसे ग्रहण करने का एक विशिष्ट परिणमन होता है, वही ज्ञान की अर्थाकारता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अतएव 'सविकल्पक ज्ञान अर्थाकारता के विना प्रमाण ही नहीं हो सकता' ऐसा बौद्धों का कथन निस्सार है।

९५-तथा-तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग ग्रहण के कारण हैं अथवा मिल कर ? यदि अलग-अलग कारण हैं तो कपाल (ठीकरे) का आद्य क्षण खप्पर के अन्तिम क्षण का ग्राहक होना चाहिए (क्योंकि आपके मतानुसार घट के अन्तिम क्षण से कपाल का प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ है,

द्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचंद्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, तदुत्पत्तेस्तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते; तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसज्जति। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्; तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरपूर्वज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत। तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्यामः ॥२५॥

९६--'अवग्रहेहावायधारणात्मा' इत्युक्तमित्यवग्रहादील्लँक्षयति--

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥२६॥

९७-अक्षम् इन्द्रियं द्रव्यभावरूपम्,'अर्थः'द्रव्यपर्यायात्मा तयोः 'योगः' सम्बन्धोऽनतिदूरासन्नव्यवहितदेशाद्यवस्थानलक्षणा योग्यता। नियता हि सा विषयविषयिणोः, यदाह,

"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासए अपुट्ठं तु ॥"[आव० नि० ५] इत्यादि। तस्मिन्नक्षार्थयोगे सति'दर्शनम्'अनुल्लिखितविशेषस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः। तदनन्तरमिति क्रमप्रतिपादनार्थमेतत्। एतेन दर्शनस्यावग्रहं प्रति परिणामितोक्ता, नह्यसत एव सर्वथा कस्यचिदुत्पादः, सतो वा सर्वथा विनाश इति दर्शनमेवोत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते।

अतः वहाँ अकेली तदुत्पत्ति विद्यमान है।)जल-चंद्र आकाशचंद्र का ग्राहक होना चाहिए(क्योंकि वहाँ तदाकारता है।)कदाचित् दोनों को सम्मिलित कारण माना जाय तो घट का उत्तरक्षण पूर्वक्षण से उत्पन्न भी होता है और उसके आकार का भी होता है। कदाचित् कहा जाय कि पूर्वोक्त पदार्थ जड़ होने से ग्रहण के कारण नहीं होते। जहाँ ज्ञानरूपता और तदुत्पत्ति तथा तदाकारता भी हो, वहीं ग्रहण होता है; तो समानजातीय ज्ञान अपने समनन्तर पूर्ववर्ती ज्ञान का ग्राहक होना चाहिए अर्थात् उत्तरकालीन घटज्ञान अपने समनन्तर पूर्ववर्ती घटज्ञान का ग्राहक होना चाहिए। (उसमें तदुत्पत्ति' तदाकारता और ज्ञानरूपता है, फिर भी वह पूर्ववर्ती घटज्ञान को नहीं जानता, बल्कि घट को जानता है।)अतएव योग्यता के अतिरिक्त ज्ञान का अन्य कोई कारण दिखाई नहीं देता॥२५॥

९६-अवग्रह का लक्षण-(अर्थ)-इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध होने पर,दर्शन के पश्चात् होने वाला पदार्थ का ग्रहण अवग्रह कहलाता है॥२६॥

९७-द्रव्य और भाव रूप इन्द्रिय तथा द्रव्य-पर्याय रूप पदार्थ का संबंध अर्थात् न बहुत दूरी पर, न बहुत समीप में-उचित देशमें अवस्थान हेना। इसे योग्यता भी कहते हैं। विषय और विषयी में यह योग्यता नियत रूप में होती है। कहा भी है।-

'श्रोत्रेन्द्रिय स्पष्ट शब्द को ग्रहण करती है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय अस्पष्ट रूप को देखती है।'

जब इन्द्रिय और पदार्थ का योग्य संबंध होता है। तो सर्वप्रथम दर्शन होता है अर्थात् वस्तु का सामान्य बोध होता है। उसके अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है। उपयोग का क्रम दिखलाने के लिए ऐसा कथन किया गया है इससे यह प्रतीत होता है कि दर्शन अवग्रह का परिणामी-उपादान कारण है। न तो सर्वथा असत् की उत्पत्ति होती है और न सत् का सर्वथा विनाश होता है, अतएव दर्शन ही आगे अवग्रह रूप में परिणत हो जाता है।

१-बौद्ध दशन मे 'क्षण' शब्द पदार्थ का वाचक है।

अर्थस्य' द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थक्रियाक्षमस्य 'ग्रहणम्', सम्यगर्थनिर्णयः' इति सामान्य-लक्षणानुवृत्तेर्निर्णयो न पुनरविकल्पकं दर्शनमात्रम् 'अवग्रहः'।

९८–न चायं मानसो विकल्पः, चक्षुरादिसन्निधानापेक्षत्वात् प्रतिसंख्यानेना-प्रत्याख्येयत्वाच्च। मानसो हि विकल्पः प्रतिसंख्यानेन निरुध्यते, न चायं तथेति न विकल्पः ॥२६॥

अवगृहीतविशेषकाङ्क्षणमीहा ॥२७॥

९९–अवग्रहगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य शब्दः 'किमयं शाङ्खः शार्ङ्गो वा' इति संशये सति 'माधुर्यादयः शाङ्खधर्मा एवोपलभ्यन्ते न कार्कश्यादयः शार्ङ्गधर्माः' इत्यन्वयव्य-तिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतेश्चेष्टा 'ईहा'। इह चावग्रहेहयोरन्तराले अभ्यस्ते ऽपि विषये संशयज्ञानमस्त्येव आशुभावात्तु नोपलक्ष्यते। न तु प्रमाणम्, सम्यगर्थनिर्ण-यात्मकत्वाभावात्।

१००––ननु परोक्षप्रमाणभेदरूपमूहाख्यं प्रमाणं वक्ष्यते तत्कस्तस्मादीहाया भेदः ?। उच्यते-त्रिकालगोचरः साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणपटुरूहो यमाश्रित्य "व्याप्ति-ग्रहणकाले योगीव सम्पद्यते प्रमाता" इति न्यायविदो वदन्ति। ईहा तु वार्त्तमानिका-र्थविषया प्रत्यक्षप्रभे इत्यपौनरुक्त्यम्।

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय रूप तथा अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ का सम्यक् निर्णय होना अवग्रह है। प्रमाण सामान्य के लक्षण की अनुवृत्ति होने से 'निर्णय' को ही अवग्रह समझना चाहिए, निर्विकल्प दर्शन मात्र को नहीं।

९८–अवग्रह मानस विकल्प भी नहीं है, क्योंकि उसमें चक्षु आदि इन्द्रियों के सन्निधान की आवश्यकता होती है और प्रतिसंख्याननामक समाधि से उसका विनाश नहीं होता। (बौद्ध-मतानुसार) मानस विकल्प प्रतिसंख्यान समाधि से नष्ट हो जाता है। किन्तु अवग्रह का प्रति-संख्यान से विरोध नहीं होता, अतएव इसे मानस विकल्प नहीं माना जा सकता ॥२६॥

अर्थ-अवग्रह द्वारा गृहीत पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा है ॥२७॥

९९-अवग्रह द्वारा जाने हुए शब्द आदि विषय में 'यह' शब्द शंख का है अथवा शृंग का ?' इस प्रकार सन्देह होता है। तत्पश्चात् इसमें माधुर्य आदि शंख के धर्म उपलब्ध हो रहे हैं, कर्कशता आदि शृंग-शब्द के धर्म नहीं मालूम होते, इस प्रकार विधि और निषेध रूप विशेषों की पर्यालोचना करने वाली मति की चेष्टा को ईहा कहते हैं। कोई वस्तु कितनी ही अधिक अभ्यस्त क्यों न हो, अवग्रह और ईहा के बीच में संशयज्ञान होता ही है, किन्तु शीघ्र हो जाने के कारण मालूम नहीं होता। हाँ, वह संशय प्रमाण नहीं है क्योंकि वह सम्यगर्थ निर्णयरूप नहीं है।

१००--प्रश्न-परोक्ष प्रमाण के भेदों में एक 'ऊह' प्रमाण आगे कहा जाएगा। तो इस ईहा और ऊह में क्या अन्तर है ? उत्तर-ऊह प्रमाण त्रिकालसंबंधी साध्य-साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने में पटु होता है। न्यायवेत्ता कहते हैं कि प्रमाता व्याप्तिग्रहण के समय योगी के

१०१–ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः । न चानिर्णयरूपत्वादप्रमाणत्वमस्याः शङ्कनीयम्; स्वविषयनिर्णयरूपत्वात्, निर्णयान्तरासादृश्ये निर्णयान्तराणामप्यनिर्णयत्वप्रसङ्गः ॥२७॥

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥२८॥

१०२–ईहाक्रोडीकृते वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख एवायं शब्दो न शार्ङ्गः' इत्येवंरूपस्यावधारणम् 'अवायः' ॥ २८ ॥

स्मृतिहेतुर्धारणा ॥२९॥

१०३–'स्मृतेः' अतीतानुसन्धानरूपाया 'हेतुः' परिणामिकारणम्, संस्कार इति यावत्, सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं ज्ञानस्यावस्थानं 'धारणा' । अवग्रहादयस्तु त्रय आन्तर्मौहूर्त्तिकाः ।

१०४–संस्कारस्य च प्रत्यक्षभेदरूपत्वात् ज्ञानत्वमुन्नेयम्, न पुनर्यथाहुः परे– "ज्ञानादतिरिक्तो भावनाख्योऽयं संस्कारः" इति । अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, नहि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति । अज्ञानरूपत्वे चास्यात्मधर्मत्वं न स्यात्, चेतनधर्मस्याचेतनत्वाभावात् ।

समान बन जाता है। ईहा सिर्फ वर्तमानकालीन पदार्थ को जानती है और वह प्रत्यक्षका भेद है। किन्तु ऊह परोक्ष का भेद है। अतएव इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है।

१०१–ईहा यद्यपि चेष्टा है। तथापि वह चेतन की चेष्टा है, अतः वह ज्ञानरूप ही है। उसे प्रत्यक्ष का भेद कहना उचित ही है. शंका -ईहा निर्णय (निश्चय) रूप नहीं होने से प्रमाण नहीं है? समाधान अपने विषय में तो वह निर्णयरूप ही है। दूसरे सभी निर्णय के समान न होने से यदि उसे अनिर्णय कहा जाय तो सभी निर्णय अनिर्णय कहलाने लगेंगे।।२७।।

अवाय का स्वरूप अर्थ--ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विशेष अर्थ के निश्चय को अवाय कहते हैं ।।२८।।

१०२–ईहाके द्वारा जो वस्तु जानी गई थी, उसमें 'यह शब्द शंख का ही है, शृंगका नहीं' इस प्रकार का निश्चय हो जाना 'अवाय' कहलाता है।।२८।।

धारणा का स्वरूप अर्थ--जो ज्ञान स्मृति का कारण हो, वह धारणा है ।२९।।

१०३--स्मृति अतीत का अनुसंधान करने वाली होती है। उसका जो परिणामी कारण हो वह धारणा है। इसे 'संस्कार भी कहते हैं। धारणा संख्यात या असंख्यात काल तक बनी रहती है। अवग्रह, ईहा और अवाय ज्ञान अन्तर्मुहूर्तभावी ही होते हैं।

१०४--संस्कार प्रत्यक्ष का भेद है, अतएव ज्ञानस्वरूप ही है। वैशेषिकों की मान्यता है कि भावनानामक संस्कार ज्ञान से अतिरिक्त है, यह ठीक नहीं। यदि संस्कार को अज्ञानरूप मान लें तो वह आत्मा का अर्थ नहीं हो सकेगा। चेतन का अर्थ अचेतन नहीं हो सकता ।

१०५--नन्वविच्युतिमपि धारणामन्वशिषन् वृद्धाः, यद्भाष्यकारः–"अविच्चुई धारणा होइ" [विशेषा० गा १८०] तत्कथं स्मृतिहेतोरेव धारणात्वमसूत्रयः ? । सत्यम् अस्त्यविच्युतिर्नाम धारणा, किन्तु साऽवाय एवान्तर्भूतेति न पृथगुक्ता । । अवाय एव हि दीर्घदीर्घोऽविच्युतिर्धारणेत्युच्यत इति । स्मृतिहेतुत्वाद्वाऽविच्युतिर्धारणयैव सङ्गृहीता । न ह्यवायमात्रादविच्युतिरहितात् स्मृतिर्भवति, गच्छत्तृणस्पर्शप्रायाणामवायानां परिशीलनविकलानां स्मृतिजनकत्वादर्शनात् । तस्मात् स्मृतिहेतू अविच्युतिसंस्कारावनेनसङ्गृहीतावित्यदोषः । यद्यपि स्मृतिरपि धारणाभेदत्वेन सिद्धांतेऽभिहिता तथापि परोक्षप्रमाणभेदत्वादिह नोक्तेति सर्वमवदातम् ।

१०६--इह च क्रमभाविनामप्यवग्रहादीनां कथञ्चिदेकत्वमवसेयम् । विरुद्धधर्माध्यासो ह्येकत्वप्रतिपत्तिपरिपन्थी । न चाऽसौ प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रत्यर्थितां भजते । अनुभूयते हि खलु हर्षविषादादिविरुद्धविवर्त्ताक्रान्तमेकं चैतन्यम् । विरुद्धधर्म्माध्यासाच्च विभ्यद्भिरपि कथमेकं चित्रपटी ज्ञानमेकानेकाकारोल्लेखशेखरमभ्युपगम्यते सौगतैः, चित्रं वा रूपं नैयायिकादिभिरिति ? ।

१०५--प्रश्न--प्राचीन आचार्योंने अविच्युति (अवायज्ञान के लगातार जारी रहनें) को भी धारणा माना है । ऐसी स्थिति में आपने स्मृति के कारण को ही धारणा कैसे कहा? उत्तर-सत्य हैं । अविच्युति धारणा भी है, किन्तु उसका समावेश अवाय में ही हो सकता है, इस कारण उसे पृथक् नहीं कहा है । अवायज्ञान एक बार उत्पन्न होकर जब लम्बा-लम्बा होता जाता है, अन्तर्मुहूर्त तक चालू रहता है, तब वही अविच्युति धारणा कहलाता है। अथवा वह भी कहा जा सकता है कि अविच्युति भी स्मृति का कारण होने से धारणा ही है । अविच्युति के बिना अकेले अवाय मात्र से स्मृति की उत्पत्ति नहीं होती । जो अवाय परिशीलन से रहित होते हैं और अनध्यवसाय सरीखे होते हैं, वे स्मृति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते । अतएव 'स्मृतिहेतु' इस पद से ही 'अविच्युति' और 'संस्कार' दोनों का ग्रहण हो जाता है, इस प्रकार कोई बाधा नहीं रहती । यद्यपि सिद्धांत में स्मृति को भी धारणा कहा है, किन्तु परोक्ष का भेद होने से यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया है ।

१०६–यद्यपि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रम से उत्पन्न होते हैं, फिर भी वे कथंचित् एक ही हैं । परस्पर विरोधी धर्मों का होना एकत्व में बाधक होता है किन्तु जो वस्तु प्रमाण से जैसी सिद्ध है, उसमें विरुद्ध धर्माध्यास कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता । एक ही चैतन्य में हर्ष विषाद आदि परस्पर विरोधी पर्यायों का पाया जाना अनुभवसिद्ध है, विरोधी धर्मों से डरने वाले बौद्धों ने भी एक ही चित्रपट ज्ञान में (नील-पीत आदि) अनेक आकारों का उल्लेख होना माना है और नैयायिकों ने एक ही अवयवी में अनेक रूपों का अस्तित्व स्वीकार किया है।

१०७-नैयायिकास्तु-"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्या० ११, ४] इतिप्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते। अत्र च पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन सङ्ख्यावद्भिस्त्रिलोचनवाचस्पतिप्रमुखैरयमर्थः समर्थितो यथा-इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्येव प्रत्यक्षलक्षणम्। 'यतः' शब्दाध्याहारेण च यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादुक्तविशेषणविशिष्टं ज्ञानं यतो भवति तत् तथाविधज्ञानसाधनं ज्ञानरूपं अज्ञानरूपं वा प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। अस्य च फलभूतस्य ज्ञानस्य द्वयी गतिरविकल्पं सविकल्पं च तयोरुभयोरपि प्रमाणरूपत्वमभिधातुं विभागवचनमेतद् 'अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकम्' इति।

१०८-तत्रोभयरूपस्यापि ज्ञानस्य प्रामाण्यमुपेक्ष्य 'यतः' शब्दाध्याहारक्लेशेनाऽज्ञानरूपस्य सन्निकर्षादेः प्रामाण्यसमर्थनमयुक्तम्। कथं ह्यज्ञानरूपाः सन्निकर्षादयोऽर्थपरिच्छित्तौ साधकतमा भवन्ति व्यभिचारात्?, सत्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽर्थोपलब्धेरभावात्। ज्ञाने सत्येव भावात्, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिति।

१०७--नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार कहा है-जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, अव्यपदेश्य हो अव्यभिचारी हो, व्यवसायात्मक हो वह प्रत्यक्ष है। इस सूत्र में यद्यपि ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, तथापि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या से मुँह मोड कर त्रिलोचन वाचस्पति आदि ने इसका अर्थ यों किया है-'इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष है' इतना ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। इस लक्षण में 'यतः' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। और 'यत्' तथा 'तत्' शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है, अर्थात् जहाँ 'जो' या जिससे आदि पद होते हैं वहाँ सो या 'उससे' आदि का प्रयोग न होने पर भी समझ लिये जाते हैं। इस नियम के अनुसार अर्थ यह निकला कि पूर्वोक्त विशेषणों वाला ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, वह ज्ञान का साधन हो, चाहे ज्ञानरूप या अज्ञानरूप, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। इस व्याख्या के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष कहलाया। ज्ञान का वह साधन अज्ञानरूप हो तो भी प्रत्यक्ष है और ज्ञानरूप हो तो भी प्रत्यक्ष है। इस साधन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान दो ही प्रकार का हो सकता है-निर्विकल्प और सविकल्प। यह दोनों ही प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं, यह प्रकट करने के लिए 'अव्यपदेश' और 'व्यवसायात्मक' इस प्रकार के दो पदों का प्रयोग किया गया है।

१०८-किन्तु दोनों प्रकार के ज्ञानों की प्रमाणता की उपेक्षा करके 'यतः' शब्द के अध्याहार की कष्टकल्पना करके अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि के प्रामाण्य का समर्थन करना योग्य नहीं है। अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि अर्थज्ञप्ति में साधकतम कैसे हो सकते हैं? उनमें व्यभिचार पाया जाता है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होने पर भी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती। वह तो ज्ञान के होने पर ही होती है। जिस कार्यमे जो साधकतम होता है वही करण कहलाता है और उससे कालव्यवधान के विना तत्काल ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

१०९-सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः संयोगादिसम्बन्धस्तर्हि स चक्षुषोऽर्थेन सह नास्ति अप्राप्यकारित्वात्तस्य। दृश्यते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्याप्यर्थस्य चक्षुषोपलब्धिः। अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्वास्यादिवदिति ब्रूषे, तर्ह्ययस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः। न च संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्षस्तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गादिति।

११०-सौगतास्तु 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' (न्यायबि० १.४) इति लक्षणमवोचन् "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना तया रहितम्"--(न्यायबि० १,५,६) कल्पनापोढम् इति। एतच्च व्यवहारानुपयोगित्वात्प्रमाणस्य लक्षणमनुपपन्नम्, तथाहि एतस्माद्विनिश्चित्यार्थमर्थक्रियार्थिनस्तत्समर्थेऽर्थे प्रवर्तमाना विसंवादभाजो मा भूवन्निति प्रमाणस्य लक्षणपरीक्षायां प्रवर्तन्ते परीक्षकाः। व्यवहारानुपयोगिनश्च तस्य वायससदशनपरीक्षायामिव निष्फलः परिश्रमः। निर्विकल्पोत्तरकालभाविनः सविकल्पकात्तु व्यवहारोपगमे वरं तस्यैव प्रामाण्यमास्थेयम्, किमविकल्पकेन शिखण्डिनेति ?।

१०९--सन्निकर्ष भी यदि योग्यता का ही नाम हो तब तो कोई हानि नहीं, यदि योग्यता से भिन्न संयोग आदि संबंध ही सन्निकर्ष माना जाय तो वह नेत्र का पदार्थ के साथ होता ही नहीं है, क्योंकि नेत्र अप्राप्यकारी है, अर्थात् रूप के साथ संयोग संबंध न होने पर भी नेत्र रूप-को जानता है। काच एवं स्फटिक आदि से व्यवहित भी पदार्थ नेत्र से उपलब्ध हो जाता है।

शंका-चक्षु प्राप्यकारी है, क्योंकि वह करण है, जो करण होता है वह प्राप्यकारी होता है, जैसे वसुला।

समाधान-यहाँ 'करण' यह हेतु दूषित है। चुम्बक लोहे से सन्निकृष्ट नहीं होता फिर भी लोहे के आकर्षण में करण होता है। कदाचित् कहो कि लोहे और चुम्बक में संयोग सन्निकर्ष न होने पर भी संयुक्तसंयोग सन्निकर्ष है, अर्थात् लोहे से संयुक्त पृथ्वी के साथ चुम्बक का संयोग है, तो यह कहना ठीक नहीं। ऐसा मानने से अतिप्रसंग हो जाएगा अर्थात् चाहे जिसका चाहे जिससे सन्निकर्ष हो जाएगा और ऐसी स्थिति में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं रह जाएगी।

११०--बौद्धों ने प्रत्यक्ष का लक्षण ऐसा माना है-'जो ज्ञान कल्पना से रहित और अभ्रान्त हो, वह प्रत्यक्ष है।' जिस प्रतीति को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सके, वह 'कल्पना' कहलाती है। (जैसे यह गाय है,,यह गाय श्वेत है, आदि प्रतीति) यह कल्पना जिस ज्ञान में संभव न हो ऐसा सामान्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु बौद्धों का यह लक्षण अयुक्त है, क्योंकि व्यवहार में अनुपयोगी है। प्रमाण से पदार्थ का निश्चय करके, अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ में ही प्रवृत्ति करें जिससे कि उन्हें असफल न होना पडे, इस उद्देश से परीक्षक जन प्रमाण की परीक्षा करते हैं। अगर प्रमाण व्यवहार में उपयोगी न हो तो उसकी परीक्षा करना काक के दाँतों की गणना करने के समान निरर्थक परिश्रम होगा। कदाचित् यह कहो कि इस कल्पनारहित निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्यवहार साध्य होता है, तो यही उचित होगा कि उसी को प्रमाण माना जाय। फिर इस बेकार निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने से क्या लाभ है?

१११--जैमिनीयास्तु धर्मं प्रति अनिमित्तत्वव्याजेन "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्ये--न्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" [जैमि० १.१.४] इत्यनुवादभङ्ग्या प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते, यदाहुः-

"एवं सत्यनुवादित्वं लक्षणस्यापि सम्भवेत् ।" (श्लोकवा० सू० ४.३९) इति ।

व्याचक्षते च–इन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सति पुरुषस्य जायमाना बुद्धिः प्रत्यक्षमिति ।

११२-अत्र संशयविपर्ययबुद्धिजन्मनोऽपीन्द्रियसंप्रयोगे सति प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः । अथ 'सत्सम्प्रयोग' इति सता सम्प्रयोग इति व्याख्यायते तर्हि निरालम्बनविभ्रमा एवार्थनिरपेक्षजन्मानो निरस्ता भवेयुर्न सालम्बनौ संशयविपर्ययौ । अथ सति सम्प्रयोग इति सत्सप्तमी पक्ष एव न त्यज्यते संशयविपर्ययनिरासाय च 'सम्प्रयोग' इत्यत्र 'सम्, इत्युपसर्गो वर्ण्यते, यदाह-

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात्" (श्लोकवा० स० ४, ३८.९)

१११--प्रत्यक्ष धर्म का निर्णय करने में समर्थ नहीं है, ऐसा कहने के व्याज से प्रत्यक्ष का लक्षण जैमिनीय (मीमांसक) इस प्रकार कहते हैं--'सत् पदार्थ के साथ इन्द्रियों का संबंध होने पर आत्मा को जो ज्ञान (प्रत्यक्ष) होता है, वह धर्म के निश्चय में निमित्त नहीं होता, क्योंकि उससे वर्तमानकालीन पदार्थ ही जाने जा सकते हैं।' उन्होंने यह लक्षण साक्षात् लक्षण के रूप में नहीं कहा है, अनुवाद रूप में कहा है । वे यही कहते हैं--'प्रत्यक्ष को धर्म में अनिमित्त बतलाने के साथ ही साथ उसके लक्षण का भी अनुवाद (गौण रूप से कथन) हो जाता है ।'

११२–यह जैमिनीय अपने लक्षण की व्याख्या इस प्रकार करते हैं--इन्द्रियों का संबंध होने पर पुरुष को उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । परन्तु संशय और विपर्यय ज्ञान भी इन्द्रिय के साथ पदार्थ का संयोग होने पर ही उत्पन्न होते हैं, अतएव इस लक्षण के अनुसार वे भी प्रत्यक्ष हो जाएँगे । शंका-'सत्संप्रयोगे' का अर्थ है-सत् के साथ संयोग होने पर । अभिप्राय यह कि सत् पदार्थ के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है, ऐसी व्याख्या करने से उक्त दोष नहीं रहता । समाधान-ऐसी व्याख्या करने पर निरालम्बन भ्रमरूप ज्ञानोंकी प्रत्यक्षता का तो निषेध हो जाएग, किन्तु संशय और विपर्यय ज्ञान की प्रत्यक्षता का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि यह दोनोंअप्रमाण ज्ञान निर्विषय नहीं है--पदार्थ (सत्) और इन्द्रिय के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं । शंका-सत् सम्प्रयोग (सत् पदार्थ में संयोग) इस अर्थ को तो ज्यों का त्यों रहने देते हैं, मगर यह कहते हैं कि सम्प्रयोग' शब्द में जो'सत्' उपसर्ग है, उससे संशय और विपर्यय ज्ञान का निराकरण हो जाता है । कहा भी है-

'सत्' शब्द सम्यक् अर्थ में प्रयुक्त होता है । यहाँ सम्प्रयोग' शब्द दुष्प्रयोग का निवारण करने के लिए है । जब शुक्तिका (सीप) के साथ इन्द्रिय का संयोग होता है और रजत की प्रतीति होती है तो वह प्रयोग (योग) दूषित होने से सम्प्रयोग नहीं दुष्प्रयोग है । क्योंकि संयोग अन्य के साथ होता है और ज्ञान अन्य पदार्थ का होता है ।

इति; तथापि प्रयोगसम्यक्त्वस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानवगम्यत्वात्कार्यतोऽवगतिर्वक्तव्या। कार्यं च ज्ञानम्, न च तदविशेषितमेव प्रयोगसम्यक्त्वावगमनायालम्। न च तद्विशेषणपरमपरमिह पदमस्ति। सता सम्प्रयोग इति च वरं निरालम्बनविज्ञाननिवृत्तये 'सति' इति तु सप्तम्यैव गतार्थत्वादनर्थकम्।

११३–येऽपि "तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यद्विषयं ज्ञानं तेन सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यदन्यविषयं ज्ञानमन्यसम्प्रयोगे भवति न तत्प्रत्यक्षम्।" [शाबरभा० १.१.५] इत्येवं तत्सतोर्व्यत्ययेन लक्षणमनवद्यमित्याहुः, तेषामपि क्लिष्टकल्पनैव, संशयज्ञानेन व्यभिचारानिवृत्तेः। तत्र हि यद्विषयं ज्ञानं तेन सम्प्रयोग इन्द्रियाणामस्त्येव। यद्यपि चोभयविषयं संशयज्ञानं तथापि तयोरन्यतरेणेन्द्रियं संयुक्तमेव उभयावमर्शित्वाच्च संशयस्य येन संयुक्तं चक्षुस्तद्विषयमपि तज्ज्ञानं भवत्येवेति नातिव्याप्तिपरिहारः। अव्याप्तिश्च चाक्षुषज्ञानस्येन्द्रियसम्प्रयोगजत्वाभावात्। अप्राप्यकारि च चक्षुरित्युक्तप्रायम्।

११४–"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्" इति वृद्धसाङ्ख्याः। अत्र श्रोत्रा-

---

समाधान-प्रयोग का सम्यक्पन अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जाना जा सकता। कार्य को देख कर ही उसका अनुमान किया जा सकेगा। प्रयोग का कार्य ज्ञान है और ज्ञान सामान्य से प्रयोग का सम्यक्पन जाना नहीं जा सकता (क्योंकि ज्ञान सामान्य सम्प्रयोग से भी उत्पन्न होता है और दुष्प्रयोग से भी।) उसकी विशिष्टता बतलाने वाला कोई पद यहाँ नहीं है। 'सतां सम्प्रयोगः' अर्थात् सत् पदार्थों का प्रयोग सम्प्रयोग है, ऐसा समास निरालम्बन ज्ञान की प्रत्यक्षताका निराकरण कर सकता है और वह अर्थ तो 'सति सम्प्रयोगः' अर्थात् 'सत् पदार्थ के होने पर सम्प्रयोग' इसीसे प्रकट हो जाता है, अतएव निरर्थक है।

११३–जो लोग प्रत्यक्ष के लक्षणमें आए हुए 'तत्' और 'सत्' शब्दों में उलझ करके यह अभिप्राय निकालते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान हो उसीके साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जब इन्द्रिय का संयोग तो किसी अन्य पदार्थ के साथ हो किन्तु-ज्ञान किसी अन्य ही पदार्थ का हो तब वह प्रत्यक्ष नहीं कहलाता उनका यह कथन वास्तव में क्लिष्ट कल्पना ही है। ऐसी कल्पना करने पर भी संशय ज्ञान में यह लक्षण चला जाता है। संशय में जिस वस्तुका ज्ञान होता है उसी के साथ इन्द्रियों का संयोग होता है।

यद्यपि संशयज्ञान दोनों वस्तुओं को विषय करता है तथापि दोनों में से किसीएक के साथ तो इन्द्रिय का संयोग होता ही है। संशय दोनों को विषय करता है, अतएव जिस वस्तु के साथ-चक्षु संयुक्त है, तद्विषयक ज्ञान भी होता ही है। अतएव पूर्वोक्त लक्षण में आनेवाली अतिव्याप्ति का परिहार नहीं होता, इस के अतिरिक्त उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है क्योंकि चाक्षुष ज्ञान इन्द्रियसंयोग से उत्पन्न नहीं होता चक्षु अप्राप्यकारी है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

११४-वृद्ध सांख्यों का कथन है-श्रोत्रादि का निर्विकल्पक व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है,

दीनामचेतनत्वात्तद्वृत्तेः सुतरामचैतन्यमिति कथं प्रमाणत्वम्? । चेतनसंसर्गात्तच्चैतन्याभ्युपगमे वरं चित एव प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तम्। न चाविल्पकत्वे प्रामाण्यमस्तीति यत्किञ्चिदेतत् ।

११५-"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्"[सां० का० ५]इति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः। तदप्यनुमानेन व्यभिचारित्वादलक्षणम् । अथ 'प्रतिः' आभिमुख्ये वर्तते तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमित्युच्यते; तदप्यनुमानेन तुल्यम् घटोऽयमितिवदयं पर्वतोऽग्निमानित्याभिमुख्येन प्रतीतेः। अथ अनुमानादिविलक्षणो अभिमुखोऽध्यवसायः प्रत्यक्षम्; तर्हि प्रत्यक्षलक्षणमकरणीयमेव शब्दानुमानलक्षणविलक्षणतयैव तत्सिद्धेः ।

११६-ततश्च परकीयलक्षणानां दुष्टत्वादिदमेव'विशदः प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम् ।। २९ ।।

११७-प्रमाणविषयफलप्रमातृरूपेषु चतुर्षु विधिषु तत्त्वं परिसमाप्यत इति विषयादिलक्षणमन्तरेण प्रमाणलक्षणमसम्पूर्णमिति विषयं लक्षयति-

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ।।३०।।

किन्तु श्रोत्र आदि जब अचेतन हैं उनका व्यापार भी अचेतन ही होगा, अतएव वह प्रमाण कैसे हो सकता है? अगर चेतन के संसर्ग से उसे चेतन मानते हो तो उससे यही अच्छा हो कि चित् ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार करो। यह पहले कहा जा चुका है कि निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता ।अतएव यह मान्यता यों ही है ।

११५-ईश्वरकृष्ण नामक सांख्याचार्य कहते हैं-'प्रतिविषय का अध्यवसाय प्रत्यक्ष कहलाता है' यह लक्षण अनुमान से व्यभिचरित है अर्थात् अनुमान में भी पाया जाता है(क्योंकि अनुमान भी प्रतिनियत विषय को जानता है । शंका-'प्रति' शब्द अभिमुखता के अर्थ में है । अतएव अभिमुख रूप से- समक्ष रूप से पदार्थ का जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष कहलाता है । समाधान-तब भी लक्षण अनुमान में जाता है । जैसे 'यह घट है' ऐसा अभिमुख रूप से प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार यह पर्वत वह्निमान है' यह अनुमान ज्ञान भी अभिमुख रूप से होता है शंका-अनुमान आदि से विलक्षण अभिमुख अध्यवसाय प्रत्यक्ष है. ऐसा कहने से अनुमान में लक्षण नहीं जाएगा। फिर कोई दोष नहीं रहेगा। समाधान-ऐसा है तो प्रत्यक्ष का लक्षण कहने की आवश्यकता ही क्या है? अनुमान और आगम प्रमाण से विलक्षण होने से ही प्रत्यक्षके लक्षण की सिद्धि हो जाएगी ।

११६-इस प्रकार दूसरों के लक्षण दूषित होने के कारण विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है'यही लक्षण निर्दोष ठहरता है।।२९।।

११७-प्रमाण, प्रमाण का विषय, फल और प्रमाण, इन चार भेदों में तत्त्व की परिसमाप्ति होती है । अतएव जब तक प्रमाण का विषय आदि न बतलाया जाए तब तक प्रमाण का लक्षण अधूरा है । अतएव पहले विषय का निरूपण करते हैं-

(अर्थ-)द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है।।३०।।

११८–प्रत्यक्षस्य प्रकृतत्वात्तस्यैव विषयादौ लक्षयितव्ये 'प्रमाणस्य' इति प्रमाणसामान्यग्रहणं प्रत्यक्षवत् प्रमाणान्तराणामपि विषयादिलक्षणमिहैव वक्तुं युक्तमविशेषात्तथा च लाघवमपि भवतीत्येवमर्थम् । जातिनिर्देशाच्च प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां 'विषयः' गोचरो 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' । द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम् । पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत् । परियन्त्युत्पादविनाशधर्म्माणो भवन्तीति पर्याया विवर्त्ताः । तच्च ते चात्मा स्वरूपं यस्य तत् द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु, परमार्थसदित्यर्थः, यद्वाचकमुख्यः-"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वा० ५. २९]इति,पारमार्षमपि "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"इति।

११९–तत्र 'द्रव्यपर्याय' ग्रहणेन द्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तवादिपरिकल्पितविषयव्युदासः । 'आत्म'ग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकाणादयैगाभ्युपगतविषयनिरासः। यच्छ्रीसिद्धसेनः–

११८–यहाँ प्रत्यक्ष का निरूपण चल रहा है, अतएव उसी के विषय आदि का निरूपण करना चाहिए, फिर भी यहाँ 'प्रमाणस्य' पद का प्रयोग करके प्रमाणसामान्य का विषय बतलाया है । इसका प्रयोजन एक साथ सब प्रमाणों के फल का निरूपण करना है । सब प्रमाणों का विषय समान है । अतएव उसे एक साथ बतला देने से ग्रन्थ में लाघव होता है । अलग-अलग कहने से ग्रंथ का निरर्थक विस्तार होगा । सामान्य की अपेक्षा से 'प्रमाणस्य' (प्रमाण का) इस एक वचन का प्रयोग किया है । अतएव प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों का फल द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है, ऐसा समझ लेना चाहिए । जो अमुक-अमुक पर्यायों के प्रति द्रवित होता रहता है अर्थात् विभिन्न पर्यायों को धारण करता हुआ रहता है उसे 'द्रव्य' कहते हैं । द्रव्य का दूसरा नाम 'ध्रौव्य' भी है । पूर्वपर्याय के नष्ट हो जाने और उत्तर पर्याय के उत्पन्न हो जाने पर भी जिसके कारण उस वस्तु में एकाकार प्रतीति होती है, अर्थात् पर्यायों के पलटते रहने पर भी उनमें जो नित्य अंश ज्यों का त्यों बना रहता है, वह ऊर्ध्वतासामान्य ही द्रव्य कहलाता है । (जैसे कडा तोड़कर कुंडल बना लेने पर भी,स्वर्ण' वही का वही रहता है । यहाँ स्वर्ण' ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य कहलाएगा ।)

जो पलटते रहते हैं–उत्पन्न होते और विनष्ट होते रहते हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं । पर्याय का दूसरा नाम 'विवर्त्त' भी है। यह द्रव्य और पर्याय दोनों वस्तु के स्वरूप हैं–यह सम्मिलित दोनों ही वस्तु हैं और ऐसी वस्तु ही वास्तव में 'सत्' कही जा सकती है । वाचकमुख्य उमास्वाति ने कहा है–'जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय हो, वही सत् है ।' सर्वज्ञप्रणीत आगम में भी यही कहा है–वस्तु उत्पन्न भी होती रहती है, नष्ट भी होती रहती है और ध्रुव भी रहती है।'

११९–प्रस्तुत सूत्र में 'द्रव्यपर्याय दोनों के ग्रहण से एकान्त द्रव्य या एकान्त पर्याय ही प्रमाण का विषय है, इस मत का निषेध हो जाता है । 'आत्मक' शब्द के प्रयोग से कणाद और यौग मत का निराकरण किया गया है, क्योंकि वे द्रव्य और पर्याय का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं । श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है–

"दोहिं वि नएहिं नीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नोन्ननिरविक्ख" ।।(सन्म०३.४९) त्ति ।।३०।।

१२०–कुतः पुनर्द्रव्यपर्यायात्मकमेव वस्तु प्रमाणानां विषयो न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रमुभयं वा स्वतन्त्रम्? इत्याह–

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥३१॥

१२१–'अर्थस्य' हानोपादानादिलक्षणस्य 'क्रिया' निष्पत्तिस्तत्र 'सामर्थ्यात्" द्रव्यपर्यायात्मकस्यैव वस्तुनोऽर्थक्रियासमर्थत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

१२२--यदि नामैवं तत् किमित्याह--

तल्लक्षणत्व द्वस्तुनः ॥३२॥

१२३ –'तद्' अर्थक्रियासामर्थ्यं 'लक्षणम्' असाधारणं रूपं यस्य तत् तल्लक्षणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । कस्य? 'वस्तुनः, परमार्थसतो रूपस्य । अयमर्थः-अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रमाणमन्वेषते, अपि नामेतःप्रमेयमर्थक्रियाक्षमं विनिश्चित्य कृतार्थो भवेयमिति न व्यसनितया । तद्यदि प्रमाणविषयोऽर्थोऽर्थक्रियाक्षमो न भवेत्तदा नासौ प्रमाणपरीक्षणमाद्रियेत । यदाह–

'यद्यपि उलूक (कणाद) ने अपने शास्त्र में दोनों नयों (द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक) को स्वीकार किया है तथापि वह मिथ्यात्व है क्योंकि वे दोनों नय अपने-अपने विषय में प्रधान होने से परस्पर निरपेक्ष हैं ।'तात्पर्य यह है कि औलूक्य दर्शन में आत्मा आकाश आदि जिन पदार्थों को नित्य माना है उन्हें एकान्त नित्य ही माना है और जिन्हें अनित्य माना है उन्हें एकान्त अनित्य ही माना। उन्होंने प्रत्येक वस्तुको नित्यानित्यात्मक नहीं माना । अतएव उनका मत भी मिथ्यात्व ही है ।

१२०–द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही क्यों प्रमाण का विषय है ? एकान्त द्रव्य, एकान्त पर्याय अथवा स्वतंत्र द्रव्य-पर्याय प्रमाण का विषय क्यों नहीं हैं ? इस प्रश्न का उत्तर–

अर्थ–अर्थक्रिया के सामर्थ्य से (द्रव्य-पर्याय रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है) ।।३१।।

१२१–त्याग करना या ग्रहण करना या उपेक्षा करना यहाँ 'अर्थ' का अभिप्राय है। उसकी 'क्रिया'अर्थात् निष्पत्ति में समर्थ होने से अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होने से द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है ।।३१।।

१२२–यदि द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होती है तो इससे क्या हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर-(अर्थ)-अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण है ।३२।।

१२३-परमार्थसत् वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया में सामर्थ्य होता है। अर्थात् तो अर्थक्रिया में समर्थ हो वही वस्तु कहलाती है, हान-उपादान आदि अर्थक्रिया के अभिलाषी होकर ही सभी लोग प्रमाण की गवेषणा करते हैं जिससे कि अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ का निश्चय करके प्रवृत्ति करने पर सफलता प्राप्त हो सके। व्यसन मात्र से प्रमाण की गवेषणा नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रमाणगोचर पदार्थ यदि अर्थक्रिया में समर्थ न हो तो प्रमाण की परीक्षा की आवश्यकता ही न हो ! कहा भी है--

"अर्थक्रियाऽसमर्थस्य विचारैः किं तदर्थिनाम् ।
षण्ढस्य रूपवैरूप्ये कामिन्याः किं परीक्षया? ।।" (प्रमाणवा० १.२१५) इति ।

१२४-तत्र न द्रव्यैकरूपोऽर्थोऽर्थक्रियाकारी, स ह्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः कथमर्थक्रियां कुर्वीत क्रमेणाक्रमेण वा ?, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्; न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्, "सापेक्षमसमर्थम्" (पात०महा०३.१.८) इति हि किं नाश्रौषीः?। न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्तेऽपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्; तत्किं स भावोऽसमर्थः ?। समर्थश्चेत्; किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति?। ननु समर्थमपि बीजमिलाजलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा;

'जो अर्थक्रिया के अभिलाषी हैं, उन्हें अर्थक्रिया में असमर्थ पदार्थ का विचार करने से क्या लाभ ? कामिनी के लिए नपुंसक की सुन्दरता--असुन्दरता का विचार करना वृथा ही है ?

(अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ का निश्चय करने के लिए ही प्रमाण की गवेषणा की जाती है. ऐसा पदार्थ द्रव्यपर्याय स्वरूप ही है. यह ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ उसके अतिरेक पर विचार किया जाता है ।)

१२४-एकान्त द्रव्यरूप अर्थात् सर्वथा नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है। एकान्तद्रव्यरूप पदार्थ वह कहलाता है जो कभी अपने स्वरूप से च्युत न हो, उत्पन्न न हो और सदा स्थिर एक रूप रहे । ऐसा पदार्थ किस प्रकार से अर्थक्रिया करेगा, क्रम से या एक साथ ? परस्पर विरोधी दो विकल्पों के अतिरिक्त तीसरा कोई विकल्प संभव नहीं है । वह क्रम से अर्थक्रिया नहीं करेगा, क्योंकि कालान्तर में होने वाली क्रियाओं को प्रथम क्रिया के समय में ही कर सकता है । वह ऐसा करने के लिए समर्थ है और जो समर्थ होता है वह कालक्षेप नहीं करता । यदि नित्य पदार्थ कालक्षेप करेगा तो उसमें असमर्थता होनी चाहिए ।

शंका–नित्य पदार्थ तो एक साथ सब क्रियाओं को करने में समर्थ है, किन्तु जब जिस क्रिया के योग्य सहकारी कारण मिलते हैं, तब उस क्रिया को करता है । समाधान–सहकारी कारणों की सहायता लेकर यदि वह कार्य करता है तो वह समर्थ नहीं कहला सकता । क्या, आपने यह नहीं सुना है कि दूसरे की अपेक्षा रखने वाला स्वयं असमर्थ होता है ।

शंका–नित्य पदार्थ को सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु सहकारियों के अभाव में न होता हुआ कार्य ही उनकी अपेक्षा रखता है । समाधान--तो क्या नित्य पदार्थ उन कार्यों को करने में असमर्थ है ? यदि वह स्वयं उन्हें करने में समर्थ है तो सहकारी कारणों का मुंह ताकने वाले उन बेचारे कार्यों की उपेक्षा क्यों करता है ? झटपट कर क्यों नहीं देता ?

शंका--बीज अंकुर की उत्पत्ति में समर्थ होने पर भी पृथ्वी, जल आदि सहायक कारणों के मिलने पर ही उसे उत्पन्न करता है, अकेला नहीं । इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होकर भी

तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा?। नो चेत्; स किं पूर्ववन्नोदास्ते। उपक्रियेत चेत्; स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियत इति निर्वचनीयम्। अभेदे स एव क्रियते इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। भेदे स कथं तस्योपकारः?, किं न सह्यविन्ध्यादेरपि?। तत्सम्बन्धात्तस्यायमिति चेत्; उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः?। न संयोगः; द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। नापि समवायस्तस्य प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वं युक्तम्, तत्त्वे वा तत्कृत उपकारोऽस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य विशेषणविशेष्यभावो हेतुरिति चेत्; उपकार्योपकारकभावाभावे तस्यापि प्रतिनियमहेतुत्वाभावात्। उपकारे तु पुनर्भेदाभेदविकल्पद्वारेण तदेवावर्तते। तन्नैकान्तनित्यो भावः—क्रमेणार्थक्रियां कुरुते।

सहकारी कारणों से युक्त होकर अर्थक्रिया करता है। समाधान-ऐसा है तो सहकारी कारण नित्य पदार्थ में कुछ विशिष्टता (उपकार) उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि नहीं करते अर्थात् सहकारी कारणों के मिलने पर भी नित्य पदार्थ ज्यों का त्यों ही रहता है तो सहकारियों के मिलने पर भी पूर्ववत् उदासीन क्यों नहीं रहता? यदि उपकार करते हैं अर्थात् विशिष्टता उत्पन्न करते हैं तो वह उपकार नित्य पदार्थ का उत्पादन ही कहलाया। (नित्यता की क्षति हो गई) इस प्रकार लाभ की इच्छा करने वाले की मूल पूंजी ही नष्ट हो गई।) यदि सहकारिकृत उपकार नित्य पदार्थ से भिन्न होता है तो वह उसका ही क्यों कहलाएगा? सह्य या विन्ध्य पर्वत का क्यों नहीं कहलाए?

शंका-नित्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण वह उपकार उसी का कहलाता है, अन्य का नहीं। समाधान-तो उपकार्य (नित्य पदार्थ) और उपकार में कौन-सा सम्बन्ध है? उसे संयोग संबंध कह नहीं सकते, क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है (यहाँ पदार्थ द्रव्य है किन्तु उपकार द्रव्य नहीं-क्रिया है।) कदाचित् समवाय सम्बन्ध कहो तो वह एक और सर्वव्यापी होने से सर्वत्र तुल्य है--किसी से निकट और किसी से दूर नहीं है। ऐसी स्थिति में अमुक के साथ ही वह संबंध हो, दूसरे के साथ नहीं, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि यह व्यवस्था मान ली जाय तो नियत सम्बन्धियों द्वारा कृत उपकार समवाय का मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में उपकार के भेद और अभेद की वह कल्पना ज्यों की त्यों कायम रहती है। उपकार का समवाय से अभेद माना जाय तो उपकार की उत्पत्ति का अभिप्राय समवाय की उत्पत्ति होगा। यदि भेद स्वीकार किया जाय तो पुनः वही बाधा खडी होगी कि वह उपकार समवाय का ही कैसे माना जाय? किसी दूसरे का क्यों न माना जाय? समवाय के नियत सबंध-संबंधत्व में विशेषणविशेष्यभाव कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव के अभाव में वह भी नियतता का कारण नहीं हो सकता, अगर पुनः वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह उपकार भिन्न है या अभिन्न है? इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। अतएव यह निश्चित

१२५–नाप्यक्रमेण। न ह्येको भावः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्?। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणेऽनर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वप्रसङ्गः– इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति, तदपि स्वव्याप्यं सत्त्वमित्यसन् द्रव्यैकान्तः।

१२६–पर्यायैकान्तरूपोऽपि प्रतिक्षणविनाशी भावो न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। यदाहुः–

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते।।"

१२७–न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्याऽवस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वम्; सुस्थितः पर्यायैकान्तवादः! यदाहुः–

१२५-नित्य पदार्थ एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता। सम्पूर्ण काल के अंशों विभागों में होनेवाली समस्त क्रियाओं को एक ही पदार्थ एक ही साथ कर लेता है, यह बात प्रतीति के योग्य नहीं है। थोडी देर के लिए मान लें कि वह ऐसा करता है तो फिर दूसरे क्षण में वह क्या करेगा? कुछ करेगा तो उसका करना क्रम से करना कहलाएगा, (जिसका निराकरण पहले किया जा चुका है।) अगर कुछ भी नहीं करेगा तो अर्थक्रियाकारी नहीं रहने से अवस्तु हो जाएगा।

इस प्रकार नित्य पदार्थ में न क्रम बनता है, न अक्रम बनता है। क्रम-अक्रम व्यापक हैं और अर्थक्रिया व्याप्य है। व्यापक के अभाव में व्याप्य भी नहीं रहता अर्थात् क्रम-अक्रम के अभाव में अर्थक्रिया भी घटित नहीं होती और अर्थक्रिया के घटित न होने से सत्त्व भी उसमें नहीं बन सकता, क्योंकि सत्त्व का व्यापक अर्थक्रियाकारित्व है, अतः जहाँ अर्थक्रियाकारित्व का अभाव है, वहाँ सत्त्व का भी अभाव होगा।

१२६-क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला एकान्त पर्यायरूप पदार्थ भी क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता। उसमें देशकृत या कालकृत क्रम ही नहीं हो सकता तो क्रमसे अर्थक्रिया कैसे कर सकता है? स्थिर रहनेवाले पदार्थ का एक देशसे दूसरे देश में होना देशक्रम और एक काल से दूसरे काल में होना कालक्रम कहलाता है। एकान्ततः क्षणविनश्वर पदार्थ में इन दोनों में से कोई भी क्रम संभव नहीं है। कहा भी है–

जो पदार्थ जहाँ उत्पन्न होता है वह वहीं रह जाता है और जिस काल में उत्पन्न होता है, उसी काल में रहता है न अन्यत्र जा सकता है, न अन्यत्र रह सकता है। अतएव एकान्त पर्यायवाद में देश और काल की व्याप्ति संभव नहीं है।

१२७-शंका-सन्तान अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से वस्तु में क्रम बन सकता है। समाधान नहीं। सन्तान कुछ वस्तु ही नहीं है। उसे वस्तु मानो तो वह क्षणिक है या नित्य? क्षणिक मानने

अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपैषि भावम् ।
उत्तिष्ठ भिक्षो! फलितास्तवाशाः सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः ।।
[न्यायम० पृ० ४६४] इति ।

१२८–नाप्यक्रमेण क्षणिकेऽर्थक्रिया सम्भवति स ह्येको रूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् यद्येकेन स्वभावेन जनयेत्तदा तेषामेकत्वं स्यादेकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति–किञ्चिदुपादानभावेन किञ्चित् सहकारित्वेन; ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूता अनात्मभूता वा?। अनात्मभूताश्चेत्; स्वभावहानिः। यदि तस्यात्मभूताः; तर्हि तस्यानेकत्वं स्वभावानां चैकत्वं प्रसज्येत । अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते; तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च मा भूत् । अथाक्रमात् क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति चेत्; एकानंशकारणात् युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरो-

पर क्षणों से उसमें कोई विशेषता नहीं रहेगी। यदि नित्य कहो तो एकान्त पर्यायवाद कैसे निभे ?

कहा है-'यदि नित्य और परमार्थसत् सन्ताननामक भाव को स्वीकार करते हो तो हे भिक्षो ! तुम्हारी आशाएं फलवती हुईं। यह क्षणभंगवाद समाप्त हो गया!

१२८-क्षणिक पदार्थ में युगपत् अर्थक्रिया संगत नहीं हो सकती। एक ही समय तक रहनेवाला रूप यदि एक ही साथ रस,गंध,आदि अनेक पदार्थों को एक ही स्वभाव से उत्पन्न करेगा तो वे रस आदि एक ही हो जाएँगे क्योंकि जो एक स्वभाव से जन्म होते हैं वे एक ही होते हैं ।

बौद्धमतानुसार पूर्वक्षण अपने सजातीय उत्तर क्षण का उपादान और विजातीय उत्तरक्षण का निमित्त कारण होता है । बौद्ध नित्यवादी को यही दोनों दोष देते हैं ।

शंका-रूप, रस, गंध आदि को एक स्वभाव से उत्पन्न नहीं करता वरन् अनेक स्वभावों से उत्पन्न करता है। रूप अपने उत्तरक्षणवर्त्ती रूप को उपादान कारण हो कर उत्पन्न करता है और रस आदि विजातीय पदार्थों को निमित्त कारण बन कर ।(इसी प्रकार रस आदि भी सजातीय के प्रति उपादान और विजातीय के प्रति निमित्त कारण होते हैं ।)समाधान-ऐसा है तो वे अनेक स्वभाव उस पदार्थ से भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? भिन्न होने पर वे उसके स्वभाव नहीं हो सकते। अगर अभिन्न माने जाएँ तो अनेकरूप मानना पडेगा (और वह निरंश नहीं रहेगा) अथवा एक-निरंश-पदार्थ से अभिन्न होने के कारण स्वभावों में एकता माननी पडेगी।

शंका--एक जगह उपादान होना ही दूसरी जगह निमित्त होता है (जैसे रूप का रूप के प्रति उपादान कारण होना ही रसादि के प्रति निमित्त होना माना जाता है), अतएव पदार्थ में स्वभाव-भेद नहीं है । समाधान--तो इसी प्रकार एक स्वभाववाला नित्य पदार्थ यदि क्रम से कार्य करे तो उसमें भी स्वभाव का भेद और कार्यों की संकरता नहीं होनी चाहिए । अगर यह कहा जाय कि अक्रम (क्रमहीन-एकान्तनित्य) से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति संभव नहीं है तो फिर तुम्हारे माने हुए एक और निरंश कारण से, एक साथ, अनेक कारणों से साध्य, अनेक कार्य नहीं हो सकते । इस प्रकार क्षणिक पदार्थ भी अक्रम से कार्यकारी नहीं होने चाहिए ।

धात् क्षणिकानामप्यक्रमेण कार्यकारित्वं मा भूदिति पर्यायैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्याऽर्थक्रियापि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तत इत्यसन् पर्यायैकान्तोऽपि ।

१२९-काणादास्तु द्रव्यपर्यायावुभावप्युपागमन् पृथिव्यादीनि गुणाद्याधाररूपाणि द्रव्याणि,गुणादयस्त्वाधेयत्वात्पर्यायाः । ते च केचित् क्षणिकाः केचिद्यावद्द्रव्यभाविनः केचिन्नित्या इति केवलमितरेतरविनिर्लुठितधर्मिधर्माभ्युपगमान्न समिचीनविषयवादिनः। तथाहि–यदि द्रव्यादत्यन्तविलक्षणं सत्त्वं तदा द्रव्यमसदेव भवेत् । सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्;असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्; तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन?। सत्तायोगात् प्राक् भावो न सन्नाप्यसन्, सत्तासम्बन्धात्तु सन्निति चेत्; वाङ्मात्रमेतत् सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात् । अपि च पदार्थः,सत्ता,योगः' इति न त्रितयं चकास्ति । पदार्थसत्तयोश्च योगो यदि तादात्म्यम्, तदनभ्युपगमबाधितम् । अत एव न संयोगः,

---

इस प्रकार एकान्त पर्यायवाद में भी व्यापक-क्रम और अक्रम के न बनने से उनकी व्यप्य अर्थक्रिया नहीं बन सकती । और जब अर्थक्रिया नहीं बन सकती तो उसका भी व्याप्य सत्त्व नहीं बन सकता, क्योंकि जहाँ व्यापक नहीं होता वहाँ व्याप्य भी नहीं होता । अतएव एकान्त पर्यायवाद भी असत् है ।

१२९–वैशेषिकों ने द्रव्य और पर्याय दोनों को स्वीकार किया है । उनके मतानुसार पृथिवी आदि, जो गुणों के आधार हैं, वे द्रव्य हैं, और गुण आदि पदार्थ आधेय होने से पर्याय हैं । इनमें से कोई कोई क्षणिक हैं, कोई यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक द्रव्य रहता है तब तक रहने वाले हैं और कोई-कोई नित्य हैं । मगर वैशेषिक धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय-गुण) को सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं, अतएव उनका कथन सम्यक् नहीं है । यथा-यदि सत्ता (सामान्य) द्रव्य से सर्वथा विलक्षण-भिन्न है तो द्रव्य असत् होना चाहिए ।

शंका–सत्ता का समवाय होने से द्रव्य सत् है । समाधान–द्रव्यादि स्वरूप से असत् हैं या सत् हैं ? असत् हैं तो सत्ता के समवाय से भी वे सत् नहीं हो सकते । और यदि सत् हैं तो उनमें सत्ता का समवाय मानना निष्फल है ।

शंका–पदार्थों में स्वरूपसत्ता तो होती ही है । समाधान–तो फिर इस शिखंडी सत्तासमवाय से क्या लाभ है ?

शंका--सत्ता के समवाय से पहले पदार्थ न सत् होता है, न असत् होता है, सत्ता के सम्बन्ध से सत् होता है । समाधान--यह वचनमात्र है । सत् और असत् से विलक्षण कोई तीसरा प्रकार हो ही नहीं सकता--जो सत् नहीं है वह असत् और जो असत् नहीं है वह सत् होता ही है । इसके अतिरिक्त पदार्थ, सत्ता और समवाय, इन तीन की प्रतीति नहीं होती है । पदार्थ और सत्ता के संबंध को यदि तादात्म्य संबंध कहा जाय तो वह वैशेषिक ने माना ही नहीं है। संयोग संबंध

समवायस्त्वनाश्रित इति सर्वं सर्वेण सम्बध्नीयान्न वा किञ्चित् केनचित् । एवं द्रव्य-गुणकर्मणां द्रव्यत्वादिभिः, द्रव्यस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषैः, पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथिवित्वादिभिः, आकाशादीनां च द्रव्याणां स्वगुणैर्योगे यथायोगं सर्वमभिधानीयम्, एकान्तभिन्नानां केनचित् कथञ्चित् सम्बन्धायोगात्, इत्यौलूक्यपक्षेऽपि विषयव्यवस्था दुःस्था ।

१३०–ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनस्तदवस्थमेव दौःस्थ्यम्; तथाहि–द्रव्य-पर्याययोरैकान्तिकभेदाभेदपरिहारेण कथञ्चिद्भेदाभेदवादः स्याद्वादिभिरुपेयते, न चासौ युक्तो *विरोधादिदोषात्––विधिप्रतिषेधरूपयोरेकत्र वस्तुन्यसम्भवान्नीला––नीलवत् १ । अथ केनचिद्रूपेण भेदः केनचिदभेदः; एवं सति भेदस्यान्यदधिकरणम-भेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २ । यं चात्मानं पुरोधाय भेदो यं चाश्रित्याभेदस्ता-

---

भी वे स्वीकार नहीं करते । रह गया समवाय संबंध सो वह सर्वव्यापी है । उसके द्वारा संबंध होगा तो सभी का सभी के साथ होगा, न होगा तो किसी के साथ नहीं होगा ।

इसी प्रकार द्रव्य का द्रव्यत्व के साथ, गुण का गुणत्व के साथ, कर्म का कर्मत्व के साथ, द्रव्य का द्रव्य गुण कर्म सामान्य और विशेष के साथ, पृथ्वीका पृथ्वीत्व के साथ, अप् का अप्त्व के साथ, तेजस् का तेजस्त्व के साथ, वायु का वायुत्व के साथ तथा आकाश आदि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ संबंध के विषय में यथायोग्य सब कह लेना चाहिए । सारांश यह है कि जो एकान्ततः भिन्न हैं, उनका किसी के साथ किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी विषय की व्यवस्था संगत नहीं होती ।

१३०–शंका–वस्तु को द्रव्य–पर्यायात्मक मानने पर भी असंगति तो कायम रहती ही है । स्याद्वादी द्रव्य और पर्याय के एकान्त भेद और अभेद का परित्याग करके कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं । किन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि उसमें विरोध (आठ) दोष उपस्थित होते हैं वे दोष इस प्रकार हैं–

१–विरोध-विधिनिषेध रूप भेद और अभेद का एक वस्तु में रहना असंभव है । जैसे नील और अनील का रहना ।

२–वैयधिकरण्य-अगर किसी रूप से भेद और किसी रूप से अभेद कहो तो भेद का अधि-करण भिन्न और अभेद का अधिकरण भिन्न होगा । यह वैयधिकरण्य दोष है ।

---

*१–जो अनुपलम्भ से साध्य हो, वह विरोध कहलाता है जैसे–हिम और आतप का । २–विभिन्न आधारों में वृत्ति होना वैयधिकरण्य (व्यधिकरणता) है । ३–अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते–करते कहीं अन्त न आना अनवस्था दोष है । ४–एक साथ दोनों की प्राप्ति होना संकर दोष है । ५–परस्पर विषय-गमन व्यतिकर दोष है । ६–अनिश्चित अनेक कोटियों का ज्ञान संशय है । ७–अप्रतिपत्ति–अज्ञान । ८–प्रमाण का विषय क्या है–यह निश्चित न होना विषयव्यवस्था–हानि दोष है ।

यद्यात्मानौ भिन्नाभिन्नावन्यथैकान्तवादप्रसक्तिस्तथा च सत्यनवस्था ३। येन च रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्च येन चाभेदस्तेनाप्यभेदश्च भेदश्चेति सङ्करः ४। येन रूपेण भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनो विविक्तेनाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ६। ततश्चाप्रतिपत्तिः ७ इति न विषयव्यवस्था८। नैवम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधस्यासम्भवात्। यत्सन्निधाने यो नोपलभ्यते स तस्य विरोधीति निश्चीयते। उपलभ्यमाने च वस्तुनि को विरोधगन्धावकाशः?। नीलानीलयोरपि यद्येकत्रोपलम्भोऽस्ति तदा नास्ति विरोधः। एकत्र चित्रपटीज्ञाने सौगतैर्नीलानीलयोर्विरोधानभ्युपगमात्, यौगैश्चैकस्य चित्रस्य रूपस्याभ्युपगमात्,एकस्यैव च पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः प्रकृते को विरोधशङ्कावकाशः?। एतेन वैयधिकरण्यदोषोऽप्यपास्तः; तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रागुक्तयुक्तिदिशा

३–अनवस्था जिस स्वरूप से भेद और जिस स्वरूप से अभेद है। वे दोनों स्वरूप भी भिन्न-भिन्न मानने पड़ेंगे। नहीं मानेंगे तो एकान्तवाद का प्रसंग हो जायगा। भिन्नाभिन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा। क्योंकि प्रत्येक भेदाभेद के लिए नये-नये स्वरूप की कल्पना करनी पड़ेगी।

४–संकर-जिस स्वभाव से भेद है उसी स्वभाव से भेद और अभेद भी मानना पड़ेगा और जिस स्वभाव से अभेद है उस स्वभाव से अभेद और भेद भी मानना होगा। इस तरह संकर दोष का प्रसंग आता है ।

५–व्यतिकर-जिस स्वरूप से भेद होगा, उसी स्वरूप से अभेद भी होगा और जिस स्वरूप से अभेद है उसी स्वरूप से भेद भी होगा। यह व्यतिकर दोष है।

६–संशय -वस्तु को भेदाभेदात्मक स्वीकार करनेपर पृथक् रूप से निश्चित करना अशक्य हो जायगा अतएव संशय दोष की प्राप्ति होगी।

७-अप्रतिपत्ति-संशय होने पर ठीक ज्ञान का अभाव होगा।

८-विषयव्यवस्थाहानि–ज्ञान का अभाव होने से विषय की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी।

समाधान–स्याद्वाद में इन दोषों के लिए कोई अवकाश नहीं है। प्रतीत होने वाली वस्तु में विरोध होना असंभव है। जिस पदार्थ के होने पर जो पदार्थ उपलब्ध न हो, वह उसका विरोधी है, ऐसा समझा जाता है। मगर उपलब्ध होने वाली वस्तु में विरोध की गंध के लिए भी कहाँ अवकाश है? नील और अनील में विरोध होने का कारण उनकी एकत्र अनुपलब्धि है। यदि ये दोनों एकत्र उपलब्ध होते तो उनमें भी विरोध न होता। बौद्धोंने एक ही चित्रपट-ज्ञान में नील और अनील का विरोध स्वीकार नहीं किया है। यौगों ने चित्र रूप को एक ही माना है। एक ही वस्त्र आदि में चलता, अचलता, रक्तता,अरक्तता, आवृतता, अनावृतता आदि परस्पर विरोधी धर्म पाये जाते हैं। तो फिर एक ही वस्तु में द्रव्य-पर्यायरूपता मानने में विरोध की शंका के लिए भी कहाँ अवकाश है? विरोध दोष के परिहार से वैयधिकरण्य दोष का भी परिहार हो जाता है, क्योंकि द्रव्यपर्याय रूपता एक ही वस्तु में पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार

प्रतीतेः । यदप्यनवस्थानं दूषणमुपन्यस्तम् , तदप्यनेकान्तवादिमतानभिज्ञेनैव, तन्मतं हि द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यपर्यायावेव भेदः भेदध्वनिना तयोरेवाभिधानात्, द्रव्यरूपेणाभेदः इति द्रव्यमेवाभेदः एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः । यौ च सङ्करव्यतिकरौ तौ मेचकज्ञाननिदर्शनेन सामान्यविशेषदृष्टान्तेन च परिहृतौ । अथ तत्र तथाप्रतिभासः समाधानम्; परस्यापि तदेवास्तु प्रतिभासस्यापक्षपातित्वात् । निर्णीते चार्थे संशयोऽपि न युक्तः, तस्य सकम्पप्रतिपत्तिरूपत्वादकम्पप्रतिपत्तौ दुर्घटत्वात् । प्रतिपन्ने च वस्तुन्यप्रतिपत्तिरिति साहसम् । उपलब्ध्यभिधानादनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो नाभाव इति दृष्टेष्टाविरुद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्त्विति ।।३२।।

१३१–ननु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनः कथमर्थक्रिया नाम ?। सा हि क्रमा-

---

(एक ही चित्रज्ञान में अनेक आकारों की प्रतीति आदि के समान) प्रतीत होती है ।

अनेकान्तवाद में अनवस्था दोष वही कहता है जो उससे अनभिज्ञ है । अनेकान्तवादियों का मत तो यह है कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में 'यह द्रव्य है, यह पर्याय है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होने से 'द्रव्य-पर्याय' यही भेद है और द्रव्य रूप से अभेद है अर्थात् जब उसी वस्तु को द्रव्य रूप में ग्रहण किया जाता है तो अभेद होता है । इस प्रकार वस्तु एक और अनेक रूप है । (सर्वथा भेदाभेद न होने से अनवस्था को अवकाश नहीं है ।

संकर और व्यतिकर नामक जो दोष बतलाए हैं, उनका परिहार १ मेचकज्ञान' और २सामान्य-विशेष'अर्थात् अपर-सामान्य से हो जाता है । कदाचित् ऐसा कहा जाय कि मेचकज्ञान आदि में तो अनेकाकारों का प्रतिभास होता है तो यहाँ भी यही समाधान समझना चाहिए, अर्थात् जैसे एक मेचकज्ञान में अनेक आकारों की प्रतीति होने से दोष नहीं है, उसी प्रकार यहाँ अनेकान्तवाद में भी एक वस्तु में अनेक धर्मों की प्रतीति होती है, अतएव दोष नहीं है । क्योंकि प्रतिभास पक्षपाती नहीं होता ।

निर्णीत वस्तु में संशय कहना भी अयुक्त है । संशय चलायमान प्रतिपत्तिरूप होता है, अतएव जहाँ निश्चल प्रतिपत्ति हो वहाँ उसके लिए अवकाश नहीं है ।

जो वस्तु प्रतिपन्न (विज्ञान–प्रमाणसिद्ध) है, उसमें अप्रतिपत्ति दोष बतलाना साहस का ही काम है ।

उपलब्धि के अभिधान से अनुपलब्धि भी सिद्ध नहीं होती, अतएव विषय––व्यवस्था का अभाव नहीं होता । इस प्रकार वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध है ।।३२।।

१३१–शंका--वस्तु द्रव्यपर्यायमय हो तो भी उससे अर्थक्रिया कैसे हो सकती है ? अर्थ-

---

१ पाँचों वर्णो वाला रत्न । २गोत्व आदि अपर सामान्य, सामान्य–विशेष कहलाते हैं । गोजातीय समस्त पदार्थों में रहने से गोत्व सामान्य है और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त होने के कारण विशेष भी है ।

क्रमाभ्यां व्याप्ता द्रव्यपर्यायैकान्तवदुभयात्मकादपि व्यावर्तताम् । शक्यं हि वक्तुमुभयात्मा भावो न क्रमेणार्थक्रियां कर्तुं समर्थः, समर्थस्य क्षेपायोगात् । न च सहकार्यपेक्षा युक्ता, द्रव्यस्याविकार्यत्वेन सहकारिकृतोपकारनिरपेक्षत्वात् । पर्यायाणां च क्षणिकत्वेन पूर्वापरकार्यकालाप्रतीक्षणात् । नाप्यक्रमेण, युगपद्धि सर्वकार्याणि कृत्वा पुनरकुर्वतोऽनर्थक्रियाकारित्वादसत्त्वम्, कुर्वतः क्रमपक्षभावी दोषः । द्रव्यपर्यायवादयोश्च यो दोषः स उभयवादेऽपि समानः–

"प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः?" इति वचनादित्याह–

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥३३॥

१३२–'पूर्वोत्तरयोः' 'आकारयोः' विवर्तयोर्यथासङ्ख्येन यौ 'परिहारस्वीकारौ' ताभ्यां स्थितिः सैव 'लक्षणम्' यस्य स चासौ परिणामश्च, तेन 'अस्य' द्रव्यपर्यायात्मकस्यार्थक्रियोपपद्यते ।

क्रिया क्रम और अक्रम (यौगपद्य) के साथ व्याप्त है । वह जैसे एकान्त द्रव्यात्मक और एकान्त पर्यायात्मक पदार्थ में घटित नहीं होती, उसी प्रकार द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ में भी नहीं घटित होना चाहिए। कहा जा सकता है कि उभयात्मक पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता,क्योंकि क्रम से करने में कालक्षेप होता है और समर्थ जो होता है, वह कालक्षेप नहीं करता । अगर सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने के कारण क्रम से कार्य करता हो तो भी ठीक नहीं,क्योंकि द्रव्य में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता, अतएव उसे सहायक कारणों द्वारा होने वाले उपकार की अपेक्षा नहीं होती और पर्याय क्षणिक होते हैं, अतएव वे भी आगे-पीछे के कार्यकाल की प्रतीक्षा नहीं कर सकते ।

द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ अक्रम से (एक साथ) भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि एक साथ सब क्रियाएँ कर लेगा तो दूसरे आदि समयों में कुछ नहीं करेगा और ऐसी स्थिति में अर्थक्रियाकारी न होने से असत् हो जाएगा । फिर भी क्रिया करेगा तो पक्ष के दोषों का प्रसंग होगा ।

एकान्त द्रव्यपक्ष (नित्यवाद) में और एकान्त पर्यायपक्ष (अनित्यवाद-क्षणिकपक्ष) में जो जो दोष आते हैं, वे उभयवाद में समान हैं । क्योंकि 'एक-एक पक्ष में आने वाले दोष उभयपक्ष में कैसे नहीं होंगे ?' अवश्य होंगे । इस शंका का समाधान करते हैं-

अर्थ-पूर्व पर्याय का परित्याग,उत्तर पर्याय का उत्पाद और स्थिति अर्थात् ध्रौव्यस्वरूप परिणाम से द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ में अर्थक्रिया संगत होती है ॥३३॥

१३२–द्रव्य–पर्यायात्मक पदार्थ अपने पूर्व-पूर्व के पर्याय को त्यागता रहता है और नवीन नवीन पर्याय को धारण करता रहता है और द्रव्य रूप से वह ध्रुव भी रहता है । यह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ही उसका परिणाम कहलाता है ।इस परिणाम के कारण पदार्थ अर्थक्रिया करता है ।

१३३–अयमर्थः–न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं नोभयरूपं वस्तु, येन तत्तत्पक्षभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं शबलं जात्यन्तरमेव वस्तु। तेन तत्तत्सहकारिसन्निधाने क्रमेण युगपद्वा तां तामर्थक्रियां कुर्वतः सहकारिकृतां चोपकारपरम्परामुपजीवतो भिन्नाभिन्नोपकारादिनोदनानुमोदनाप्रमुदितात्मनः उभयपक्षभाविदोषशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीकस्य भावस्य न व्यापकानुपलब्धिबलेनार्थक्रियायाः, नापि तद्व्याप्यसत्त्वस्य निवृत्तिरिति सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमाणस्य विषयः ॥३३॥

१३४–फलमाह-

फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥

१३५–'प्रमाणस्य' इति वर्तते, प्रमाणस्य 'फलम्' 'अर्थप्रकाशः' अर्थसंवेदनम् अर्थार्थी हि सर्वः प्रमातेत्यर्थसंवेदनमेव फलं युक्तम्। नन्वेवं प्रमाणमेव फलत्वेनोक्तं स्यात्, ओमिति चेत् तर्हि प्रमाणफलयोरभेदः स्यात्। ततः किं स्यात्?। प्रमाणफलयोरैक्ये सदसत्पक्षभावी दोषः स्यात्, नासतः करणत्वं न सतः फलत्वम्। सत्यम् अस्त्ययं दोषो जन्मनि न व्यवस्थायाम्। यदाहुः-

---

१३३–अभिप्राय यह है कि अनेकान्त मत में वस्तु न केवल द्रव्यात्मक है, न केवल पर्यायात्मक है और न परस्पर भिन्न द्रव्य-पर्यायात्मक है। अनेकान्तपक्ष इन तीनों एकान्त पक्षों से विलक्षण हैं। अतएव इन पक्षों में आने वाले दोष अनेकान्तपक्ष में लागू नहीं हो सकते। वस्तु वास्तव में स्थिति, उत्पत्ति और व्यय से युक्त एक पृथक्-जातिरूप है। अतएव वह विभिन्न सहकारी कारणों का सन्निधान होने पर क्रम से या युगपत् नाना प्रकार की अर्थक्रियाओं को करती है, सहकारी कारणों द्वारा किये जाने वाले उपकारों की सहायता लेती है। कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न उन उपकार्यों से उसमें सामर्थ्य आता है। अतएव दोनों एकान्त पक्षों में आने वाले दोषों की आशंका के कलंक से वह मुक्त है। इस प्रकार की वस्तु से क्रम और यौगपद्य रूप व्यापक की अनुपलब्धि के कारण अर्थक्रिया का और अर्थक्रिया के व्याप्य सत्त्व का अभाव नहीं होता है।

इस प्रकार द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है, यह सिद्ध हुआ ॥३३॥

१३४–प्रमाण का फल–(अर्थ)- प्रमाण का फल अर्थ का प्रकाश होता है ॥३४॥

१३५–'प्रमाण' की अनुवृत्ति है, अतः प्रमाण का फल अर्थ का ज्ञान होता है। सभी प्रमाता अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु को ही जानने के इच्छुक होते हैं अतएव ऐसे पदार्थ का ज्ञान ही प्रमाण का फल होना चाहिए। शंका–ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान को ही फल माना है, यह तो प्रमाण को ही फल मानना कहलाया। समाधान--हाँ, कहलाया। शंका--तो प्रमाण और फल में भेद नहीं रहा। समाधान--नहीं रहा तो क्या होगया ?

शंका--सदसत्पक्षभावी दोष हो गया। यदि प्रमाण असत् होगा तो वह कार्य-फल का करण नहीं हो सकेगा और यदि सत् माना जाएगा तो उसे फल कार्य नहीं कहा जा सकता। समाधान-ठीक है, उत्पत्ति में यह दोष होता है, व्यवस्था में नहीं। कहा भी है-

"नासतो हेतुता नापि सतो हेतोः फलात्मता।
इति जन्मनि दोषः स्याद् व्यवस्था तु न दोषभाग् ॥" इति ॥३४॥

१३६–व्यवस्थामेव दर्शयति-

कर्मस्था क्रिया ॥३५॥

१३७–कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् ॥३५॥

१३८–प्रमाणं किमित्याह-

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

१३९–कर्तृव्यापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम् ॥३६॥

१४०–कथमस्य प्रमाणत्वम् ?। करणं हि तत् साधकतमं च करणमुच्यते। अव्यवहितफलं च तदित्याह-

तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥

१४१–'तस्याम्, इति कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां 'सत्याम्' 'अर्थप्रकाशस्य' फलस्य 'सिद्धेः' व्यवस्थापनात्। एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्था-

---

'जो असत् अर्थात् अविद्यमान होता है, वह करण नहीं हो सकता और सत् होता है वह कार्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि यदि प्रमाण और फल अभिन्न हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रमाण सत् माना जाय या असत् ? यदि सत् है तो उससे अभिन्न होने के कारण फल को भी सत् मानना पडेगा। जब फल भी सत् है तो प्रमाण से उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और यदि प्रमाण स्वयं असत् है तो फल में उसे करण नहीं कहा जा सकता। अतः यह दोष उत्पत्ति में होता है, व्यवस्था में यह दोष लागू नहीं होता' ॥३४॥

१३६–व्यवस्था का उपदर्शन–(सूत्रार्थ)–कर्म में स्थित क्रिया कहलाती है ॥३५॥

१३७--कर्म की ओर उन्मुख ज्ञान-व्यापार फल कहलाता है

१३८–प्रमाण क्या है ? (सूत्रार्थ)--कर्त्ता में स्थित क्रिया प्रमाण है।

१३९–कर्त्ता के व्यापार का उल्लेख करता हुआ बोध प्रमाण कहलाता है।

१४०–यह प्रमाण क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि वह करण है और करण साधकतम होता है। बिना कालव्यवधान के तत्काल उससे कार्य की उत्पत्ति होती है। यही बात आगे कहते हैं--

(सूत्रार्थ)--कर्तृस्थ क्रिया के होने पर अर्थप्रकाश की सिद्धि होती है॥३७॥

१४१--प्रमाणरूप कर्तृस्थ क्रिया के होने पर अर्थप्रकाश की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रमाण और फल एक ही ज्ञानगत होने से अभिन्न हैं, किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक के भेद से भिन्न भी हैं। तात्पर्य यह है कि क्रिया कर्म और कर्ता दोनों में रहती है। यहाँ ज्ञप्ति क्रिया कर्म में रहने से फल हैं और कर्ता में रहने से प्रमाण है। किन्तु वस्तुतः क्रिया एक है और वही प्रमाण तथा फल है। उस अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद होने पर भी प्रमाण व्यवस्थापक

प्यव्यवस्थापकभावात्तु भेद इति भेदाभेदरूपः स्याद्वादमबाधितमनुपतति प्रमाणफलभाव इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमव्यवहितं फलमुक्तम् ॥३७॥

१४२–अव्यवहितमेव फलान्तरमाह-

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

१४३-प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं प्रमातुर्विवक्षिते विषये यत् 'अज्ञानम्' तस्य निवृत्तिः' फलमित्यन्ये । यदाहुः-

"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥" [न्याया॰ २८] इति ॥३८॥

१४४-व्यवहितमाह-

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥

१४५-अवग्रहेहावायधारणास्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां यद्यत् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं यद्यदुत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपत्तव्यम् । अवग्रहपरिणामवान् ह्यात्मा ईहारूपफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम् । ततोऽपीहा प्रमाणमवायः फलम् । पुनरवायः प्रमाणं धारणा फलम् । ईहाधारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया । ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम् । ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्य-

---

और फल व्यवस्थाप्य है, इस अपेक्षा से दोनों में भेद भी है। अतएव प्रमाण और फल में भेदाभेद रूप स्याद्वाद लागू होता है । यह सभी प्रमाणों का सामान्य साक्षात् फल कहा गया है ॥३७॥

१४२--दूसरा साक्षात् फल--(सूत्रार्थ) अथवा--अज्ञान की निवृत्ति फल है ॥३८॥

१४३--प्रमाण की प्रवृत्ति होने से पहले प्रमाता को किसी विषय में जो अज्ञान होता है, उसका दूर हो जाना प्रमाण का फल है । कहा भी है-

'प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का निवारण हो जाना है । परस्पर फल केवलज्ञान का सुख और उपेक्षाभाव होना है और शेष प्रमाणों का ग्रहणबुद्धि तथा त्याग बुद्धि होना है' ॥३८

व्यवहित का निरूपण-(सूत्रार्थ) क्रम से उत्पन्न के स्वभाव वाले अवग्रह आदि में से पूर्व-पूर्व के प्रमाण और उत्तर-उत्तर वाले फल हैं ॥३९॥

१४५–अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह (तर्क) और अनुमान यह ज्ञान क्रम से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पहले अवग्रह, फिर ईहा, फिर अवाय आदि होते हैं । इनमें पहले-पहले वाला ज्ञान प्रमाण और आगे-आगे वाला उसका फल है । जो आत्मा पहले अवग्रहपर्याय से युक्त होता है, वही ईहारूप फल से युक्त होता है । अतएव अवग्रह प्रमाण और ईहा उसका फल है, तत्पश्चात् ईहा प्रमाण और अवाय उसका फल है, पुनः अवाय प्रमाण और धारणा उसका फल है, फिर धारणा प्रमाण और स्मृति उसका फल है, इसी प्रकार स्मृति प्रमाण और प्रत्यभिज्ञान

भिज्ञानं फलम् । ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । ततोऽप्यूहः प्रमाणमनुमानं फलमिति प्रमाणफलविभाग इति ॥३९॥

१४६-फलान्तरमाह-

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

१४७-हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादनं सर्वेषां फलत्वेन न विरोधो वैवक्षिकत्वात् फलस्येति प्रदिपादनार्थम् ॥४०॥

१४८-एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिमतपरीक्षार्थमाह-

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

१४९-करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफलभेदव्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहारः, अफलाद्व्यावृत्त्या च फलव्यवहारो भविष्यतीति चेत्; नैवम्; एवं सति प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः ।

उसका फल है, फिर प्रत्यभिज्ञान प्रमाण और ऊह उसका फल है और ऊह प्रमाण तथा अनुमान उसका फल है । इस प्रकार प्रमाण और उसके फल का विभाग समझ लेना चाहिए॥३९॥

१४६–अन्य फल बतलाते हैं–(सूत्रार्थ)-अथवा हानबुद्धि आदि फल हैं ॥४०॥

१४७–अथवा हानबुद्धि--त्याग करने की बुद्धि, ग्रहण करने की बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि प्रमाण का फल है । यहाँ अनेक फलों का जो प्रतिपादन किया है, वह इसलिए कि इन सब के फल होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि फल प्रमाता की इच्छा के अनुसार होता है ॥४०॥

१४८--प्रमाण से फल को एकान्त भिन्न या एकान्त अभिन्न कहने वाले मत की परीक्षा–(सूत्रार्थ- प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न और अभिन्न है ॥४१॥

१४९--प्रमाण करण हैं और फल क्रिया है, अतएव दोनों में भिन्नता भी है । एकान्त अभेद माना जाय तो'प्रमाण और फल' इस प्रकार के भेद का व्यवहार नहीं हो सकेगा । या तो प्रमाण ही होगा या अकेला फल ही ।

शंका--दोनों में अभिन्नता होने पर भी अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण का और अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार हो सकता है ।*

समाधान–यह मान्यता ठीक नहीं । प्रत्येक वस्तु जैसे विजातीय पदार्थों से भिन्न होती है, उसी प्रकार सजातीयों से भी भिन्न होती है । अतएव जैसे अप्रमाण से व्यावृत्त होने से 'प्रमाण की' कल्पना करते हो, उसी प्रकार प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण)से व्यावृत्त होने के कारण भी

---

*(यह बौद्धों की मान्यता है । बौद्ध अन्यव्यावृत्ति को शब्द का अर्थ मानते हैं । उनके मतानुसार 'गो का अर्थ गलकंबलवाला चौपाया पशु नहीं किन्तु जो 'अगो' से भिन्न हो, वह गो' है । इसी प्रकार जो अप्रमाण न हो सो प्रमाण और अफल न हो सो फल, ऐसा व्यवहार एक ही वस्तु में माना जाता है ।)

१५०–तथा, तस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः । अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति नात्मान्तरे तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; समवायस्य नित्यत्वाद् व्यापकत्वान्नियतात्मवत्सर्वात्मस्वप्यविशेषान्न ततो नियतप्रमातृसम्बन्धप्रतिनियमः तत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

१५१–प्रमातारं लक्षयति-

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

१५२–स्वम् आत्मानं परं चार्थमाभासयितुं शीलं यस्य स 'स्वपराभासी' स्वोन्मुखतयाऽर्थोन्मुखतया चावभासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्रियाणां प्रतीतेः

'अप्रमाण' की कल्पना करनी पडेगी । इसी प्रकार फलान्तर से व्यावृत्त होने के कारण फल को भी 'अफल' मानना पडेगा । अतएव प्रमाण और फल में भेद मानना चाहिए ।

१५०–तथा, उसी आत्मा का प्रमाण के रूप में परिणमन होता है और उसी आत्मा का फल के रूप में परिणाम होता है । इस प्रकार एक ही प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद भी है ।

(वैशेषिकमत के अनुसार) प्रमाण और फल का सर्वथा भेद माना जाय तो जैसे देवदत्त की आत्मा में उत्पन्न होने वाला फल जिनदत्त का नहीं कहलाता, उसी प्रकार वह देवदत्त का भी नहीं कहलाएगा । (क्योंकि वह जिनदत्त की तरह देवदत्त से भी भिन्न है ।) अतः प्रमाण-फल की कोई व्यवस्था नहीं होगी ।

शंका–जिस आत्मा में प्रमाण समवाय संबंध से रहता है, उसी आत्मा में फल का भी समवाय होता है; अतएव समवाय सम्बन्ध से प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था हो जाती है। वह फल किसी दूसरी आत्मा का नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरी आत्मा में वह समवाय संबंध से नहीं रहता है । समाधान–समवाय संबंध से ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि समवाय को आपने नित्य और सर्वव्यापी माना है । वह किसी भी एक आत्मा के समान सभी आत्माओं में समान है, अतएव कोई फल अमुक आत्मा का ही है, यह निमय उससे बन नहीं सकता । अतएव यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है और अभिन्न भी है ।।४१।।

१५१–प्रमाता का लक्षण–

(सूत्रार्थ–स्व और पर को जानने वाला तथा परिणमनशील आत्मा प्रमाता है ।।४२।।

१५२–जिसका स्वभाव अपने स्वरूप को तथा पर-पदार्थ को जानना है,वह'स्वपरावभासी' कहलाता है । ज्ञान स्वोन्मुख-अपनी ओर झुका हुआ और अर्थोन्मुख प्रतीत होता है । ' मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसमें कर्म (घट) कर्त्ता (मैं-अहम्) और क्रिया (जानता हूँ), इन सबका बोध होता है । इनमें से किसी भी एक के बोध का निषेध करने में

अन्यतरप्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात्। न च परप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीपवत्। नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते। अनेनैकान्तस्वाभासिपराभासिवादिमतनिरासः। स्वपराभास्येव 'आत्मा प्रमाता'।

१५३–तथा, परिणाम उक्तलक्षणः स विद्यते यस्य स 'परिणामी'। कूटस्थनित्ये ह्यात्मनि हर्षविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्ताः प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माणो न वर्तेरन्। एकान्तनाशिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युन्मार्गणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रतीता व्यवहारा विशीर्येरन्। परिणामिनि तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मिण्यात्मनि सर्वमुपपद्यते। यदाहुः–

"यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम्।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते ॥
तथैव नित्यचैतन्यस्वरूपस्यात्मनो हि न।
निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा ॥

कोई प्रमाण-हेतु नहीं है। अर्थात् ज्ञान जैसे घट और 'मैं' इस कर्त्ता को जानता है, उसी प्रकार 'जानता हूँ' इस क्रिया को भी जानता है। यहाँ जानने को जानना ही स्वप्रकाश या स्वसंवेदन कहलाता है। स्वप्रकाशत्व के साथ परप्रकाशकत्व का कोई विरोध नहीं है। दीपक स्वप्रकाशक होने के साथ परप्रकाशक भी है। उसे प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की अपेक्षा नहीं होती। इस कथन से आत्मा एकान्ततः स्वाभासी ही है अथवा पराभासी ही है इन दोनों मतों का निरास हो जाता है। इस प्रकार स्व-परावभासी आत्मा प्रमाता है।

१५३-परिणाम का लक्षण पहले कहा जा चुका है–उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमयता; वह जिसमें पाया जाय उसे परिणामी कहते हैं। आत्मा परिणामी है। यदि उसे कूटस्थनित्य माना जाय तो उसमें हर्ष विषाद, सुख तथा दुःख का भोग आदि पर्याय और प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि धर्म घटित नहीं होते। इसके विपरीत यदि एकान्त क्षणविनश्वर मानें तो किये हुए कर्मों के फल का भोग नहीं करने का और अकृत कर्मों के फलयोग का प्रसंग आएगा। अर्थात् आत्मा को एकान्त नश्वर मानें तो कर्म करते ही उसका विनाश हो जाएगा और ऐसी स्थिति में वह उसका फल नहीं भोग सकेगा। तत्पश्चात् उस कर्म का जो फल भोगेगा, वह कोई दूसरा ही आत्मा होगा जिसने वह कर्म नहीं किया था। उसके अतिरिक्त स्मरण, प्रत्यभिज्ञान का तथा रक्खी हुई वस्तु को बाद में तलाश करने आदि व्यवहारों का भी, जो प्रत्येक प्राणी को प्रतीत हो रहे हैं, अभाव हो जायेगा। यदि आत्मा को परिणामी अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप (कथंचित् नित्यानित्य) मान लिया जाय तो उल्लिखित सभी बातें संगत हो जाती हैं। कहा भी है–

'जैसे सर्प की कुंडलावस्था मिटती है, तदनन्तर सरलता (सीधापन) अवस्था उत्पन्न होती है और सर्पत्व दोनों अवस्थाओं में ज्यों का त्यों कायम रहता है–

इसी प्रकार नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्पूर्ण रूप का न तो विनाश होता है और न वह पूरा का पूरा कायम रहता है।

किं त्वस्य विनिवर्तन्ते सुखदुःखादिलक्षणाः ।
अवस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते ।।
स्यातामत्यन्तनाशे हि कृतनाशाकृतागमौ ।
सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकरूपिणः ।।
न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थां समाश्रिते ।
ततोऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्तैवाप्नोति तत्फलम् ।।" [तत्त्वसं० का० २२३-२२७]

इति अनेनैकान्तनिन्यानित्यवादव्युदासः | 'आत्मा' इत्यनात्मवादिनो व्युदस्यति । काय-प्रमाणता त्वात्मनः प्रकृतानुपयोगान्नोक्तेति सुस्थितं प्रमातृलक्षणम् ||४२||

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

किन्तु आत्मा की सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ नष्ट होती रहती हैं और उत्पन्न होती रहती हैं; मगर चैतन्य ज्यों का त्यों स्थिर बना रहता है ।

आत्मा को एकान्त विनाशशील मान लिया जाय तो कृतकर्मप्रणाश (किये कर्म का फल न भोगना) और अकृतकर्मागम (बिना किये कर्मों का फल भोगना) दोषों का प्रसंग होता है । यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाय तो सुख–दुःख आदि विविध प्रकार के पर्यायों का होना संभव नहीं है ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा में नहीं होते, उसकी अवस्थाओं में होते हैं, यह कल्पना संगत नहीं; क्योंकि अवस्थाओं से अवस्थावान् भिन्न नहीं है । दोनों में कथंचित् अभेद है । अतएव कर्म का कर्त्ता ही उसका फल भोगता है ।'

इस कथन के द्वारा आत्मा के एकान्त नित्यत्व और एकान्त अनित्यत्व का निराकरण किया गया है । 'आत्मा' शब्द के प्रयोग से अनात्मवाद का विरोध किया किया है । आत्मा शरीरपरिमित है, यह बात प्रकृत में उपयोगी न होने से नहीं कही गई है ।

यह प्रमाता का लक्षण सिद्ध हुआ ।।४२।।

इस प्रकार आचार्य श्री हेमचद्रद्वारा विरचित प्रमाणमीमांसा और उसकी वृत्तिके
प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक पूर्ण हुवा ।

॥ अथ द्वितीयमाह्निकम् ॥

१–इहोद्दिष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षितं प्रत्यक्षम् । इदानीं परोक्ष-लक्षणमाह–

अविशदः परोक्षम् ॥१॥

२–सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इत्यनुवर्तते तेनाविशदः सम्यगर्थनिर्णयः परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

३–विभागमाह-

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ॥२॥

४–'तद्' इति परोक्षस्य परामर्शस्तेन परोक्षस्यैते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि प्रमाणान्तराणि प्रक्रान्तप्रमाणसङ्ख्याविघातप्रसङ्गात् ।

परोक्ष प्रमाण–

१–प्रत्यक्ष और परोक्ष, इन दो प्रमाणों का नामोल्लेख किया गया था, उनमें से प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया जा चुका है । अब परोक्ष प्रमाण का स्वरूप कहते हैं–

परोक्ष का लक्षण-सूत्रार्थ–अविशद सम्यगर्थनिर्णय परोक्ष है ॥१॥

२-सामान्य लक्षण की अनुवृत्ति करके ही विशेष लक्षण का विधान किया जाता है, अत-एव 'सम्यगर्थनिर्णय' इस पद की यहाँ अनुवृत्ति है । इस कारण पदार्थ का जो सम्यक् निर्णय अविशद हो अर्थात् जिस ज्ञान में 'इदम्'रूप का प्रतिभास न हो अथवा जिसकी उत्पत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा हो वह परोक्ष प्रमाण कहलाता है । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण भी सम्यक् निर्णयरूप होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण विशद होता है जब कि परोक्ष में विशदता नहीं होती, यही दोनों के स्वरूप में अन्तर है ॥१॥

३–परोक्ष के भेद–(सूत्रार्थ)–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम, यह परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं ॥२॥

४–सूत्र में गृहीत 'तत्' शब्द से 'परोक्ष' का ग्रहण किया गया है । इससे यह सिद्ध किया गया है कि स्मृति आदि परोक्ष के ही प्रकार हैं––स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं । इन्हें स्वतंत्र प्रमाण मान लिया जाय तो प्रमाण के दो भेद कहे हैं, उसमें बाधा होगी ।

५–ननु स्वतन्त्राण्येव स्मृत्यादीनि प्रमाणानि किं नोच्यन्ते?, किमनेन द्रविड-मण्डकभक्षणन्यायेन?। मैवं वोचः, परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान्न विभेद-वर्तीनि; यथैव हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसंवेदन-योगिज्ञानानि सौगतानां न प्रत्यक्षाद्व्यतिरिच्यन्ते, तथैव हि परोक्षलक्षणाक्षिप्तानि स्मृत्यादीनि न मूलप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थीनीति । स्मृत्यादीनां पञ्चानां द्वन्द्वः ॥५॥

६–तत्र स्मृतिं लक्षयति-

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

७–'वासना संस्कारस्तस्याः 'उद्बोधः' प्रबोधस्तद्धेतुका तन्निबन्धना'

"कालमसंखं संखं च धारणा होइ नायव्वा" [विशेषा०गा० ३३३]

इति वचनाच्चिरकालस्थायिन्यपि वासनाऽनुद्बुद्धा न स्मृतिहेतुः, आवरणक्षयोपशम-सदृशदर्शनादिसामग्रीलब्धप्रबोधा तु स्मृतिं जनयतीति 'वासनोद्बोधहेतुका' इत्युक्तम् । अस्या उल्लेखमाह 'तदित्याकारा' सामान्योक्तौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स घटः, सा पटी तत् कुण्डलमित्युल्लेखवती मतिः स्मृतिः ।

५–शंका–स्मृति आदि को स्वतंत्र ही प्रमाण क्यों नहीं कहते ? इस द्रविडमण्डकभक्षण न्याय को चरितार्थ करने से क्या लाभ ? अर्थात् सबको गड्डमगड्डु-सेलभेल क्यों करते हैं ? समाधान–ऐसा न कहो । जो प्रमाण परोक्ष के लक्षण में अन्तर्गत हो जाते हैं, वे परोक्ष से पृथक् नहीं हो सकते । जैसे बौद्धमत के अनुसार इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, स्वसंवेदन और योगिज्ञान, प्रत्यक्ष के लक्षण में संगृहीत होने से प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार स्मृति आदि परोक्ष के लक्षण में अन्तर्गत हो जाते हैं । अतएव प्रमाण के मूल दो भेदों में ये बाधक नहीं हैं । स्मृति आदि पाँचों पदों में द्वन्द्व समास है ॥२॥

६–स्मृति का स्वरूप–(सूत्रार्थ)–वासना की जागृति जिसमें कारण हो और 'वह' ऐसा जिसका आकार हो, वह ज्ञान स्मृति है ॥३॥

७–स्मृतिज्ञान वासना अर्थात् धारणानामक संस्कार से उत्पन्न होता है । विशेषावश्यक-भाष्य में कहा है—'धारणा असंख्यात या संख्यात काल तक रहती है' इस कथन के अनुसार, चिरकाल तक स्थायी रहने वाली वासना भी यदि जागृत न हो तो उससे स्मृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती । आवरण के क्षयोपशम तथा सदृश पदार्थ के दर्शन आदि कारणों से जब वासना उद्-बुद्ध होती है, तभी वह स्मृति को उत्पन्न करती है । अतएव उसे वासना की जागृति से उत्पन्न होने वाली कहा है । 'तत्' अर्थात् 'वह' ऐसा स्मृति ज्ञान का आकार होता है । सामान्य की विवक्षा से 'तत्' इस नपुंसकलिंग का प्रयोग किया गया है. उससे 'वह घट' 'वह पटी' और 'वह कुण्डल' इस प्रकार का उल्लेख करने वाली सब बुद्धियों को स्मृति समझना चाहिए ।

८–सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात् स्वयं निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। नन्वनुभूयमानस्य विषयस्याभावान्निरालम्बना स्मृतिः कथं प्रमाणम् ?। नैवम्, अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यं प्रसज्येत। स्वविषयावभासनं स्मृतेरप्यविशिष्टम्। विनष्टो विषयः कथं स्मृतेर्जनकः?, तथाचार्थाजन्यत्वान्न प्रामाण्यमस्या इति चेत्; तत् किं प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्यत्वमविसंवादहेतुरिति विप्रलब्धोऽसि?। मैवं मुहः, यथैव हि प्रदीपः स्वसामग्रीबललब्धजन्मा घटादिभिरजनितोऽपि तान् प्रकाशयति तथैवावरणक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियानिन्द्रियबललब्धजन्म संवेदनं विषयमवभासयति। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं विषयः" इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदजन्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात्। किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दत्तो

८–स्मृति प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादक है अर्थात् सफल क्रियाजनक है। उसके अविसंवादक होने का कारण यह है कि स्वयं रक्खी हुई वस्तु की स्मृति के आधार पर तलाश करने आदि व्यवहारों में कोई गड़बड़ नहीं होती।

शंका- स्मृति का विषय अनुभूयमान---वर्त्तमान में अनुभव किया जाता हुआ-नहीं होता (पूर्वानुभूत पदार्थ को ही स्मृति जानती है जिसकी कोई सत्ता नहीं रहती) अतएव वह निर्विषय होने के कारण कैसे प्रमाण हो सकती है ? समाधान--ऐसा न कहिए। स्मृति का विषय अनुभूत पदार्थ होता है, अतएव वह निर्विषय नहीं--सविषय ही है। अनुभूत विषय होने पर भी यदि स्मृति को निर्विषय कह कर अप्रमाण मानते हो तो प्रत्यक्ष भी जब अनुभूत पदार्थ को विषय करता है तब अप्रमाण हो जाना चाहिए। कदाचित् कहो कि अपने विषय को जानने के कारण प्रत्यक्ष तो प्रमाण ही है, तो यही बात स्मृति के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

शंका--जो विषय सर्वथा नष्ट हो चुका है, वह स्मृति का जनक कैसे हो सकता है ? अतएव अर्थजन्य न होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं है। समाधान- क्या इस धोखे में हो कि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान अविसंवादक (और प्रमाण) होता है ! आपको इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए। दीपक तेल, बत्ती आदि अपने कारणों से उत्पन्न होता है, घट आदि से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी घट आदि को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आवरणक्षयोपशम--सापेक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (अर्थजनित न होने पर भी) पदार्थ को प्रकाशित करता है।

'अन्वय और व्यतिरेक के विना कार्यकारणभाव नहीं होता और जो ज्ञान का कारण नहीं होता वह ज्ञान का विषय भी नहीं होता' बौद्धों का यह कथन प्रलापमात्र है। योगियों का ज्ञान भूतकालीन (विनष्ट) और भविष्यत्कालीन (अनुत्पन्न) पदार्थों को जानता है, यद्यपि उनसे उत्पन्न नहीं होता; फिर भी उसकी प्रमाणता के संबंध में कोई विवाद नहीं है। स्मृति को यदि प्रमाण नहीं माना जाएगा तो अनुमान की प्रमाणता का भी परित्याग करना पडेगा। व्याप्ति

जलाञ्जलिः, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरण-पूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम् । ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति सिद्धम् ॥३॥

९–अथ प्रत्यभिज्ञानं लक्षयति-

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रति-योगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

१०–'दर्शनम्' प्रत्यक्षम्, 'स्मरणम्' स्मृतिस्ताभ्यां सम्भवो यस्य तत्तथा दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनाज्ञानं 'प्रत्यभिज्ञानम्'। तस्योल्लेखमाह-'तदेवेदम्, सामान्यनिर्देशेन नपुंसकत्वम्, स एवायं घटः, सैवेयं पटी, तदेवेदं कुण्डमिति । 'तत्सदृशः' गोसदृशो गवयः, 'तद्विलक्षणः' गोविलक्षणो महिषः, 'तत्प्रतियोगि' इदमस्मादल्पं महत् दूरमासन्नं वेत्यादि । 'आदि' ग्रहणात्-

"रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः ।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारयेः ॥" [न्यायम० पृ० १४३]

का स्मरण होने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है, यदि व्याप्ति का स्मरण प्रमाण नहीं है तो उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला अनुमान भी कैसे प्रमाण हो सकेगा ? यह सिद्धान्त सर्व वादियों को मान्य है कि साधन के ग्रहण से और अविनाभाव (व्याप्ति) के स्मरण से ही अनुमान की उत्पत्ति होती है । इससे सिद्ध है कि स्मृति प्रमाण है,अन्यथा अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता ।।३।

९– प्रत्यभिज्ञान का लक्षण - (सूत्रार्थ)- प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, 'यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है यह उससे थोडा, बहुत, निकट या दूर है' इत्यादि जोड रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है ।।४।।

१०–प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला संकलनावान (जोड़रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है ।* इसका आकार यों होता है–यह वही है, जैसे यह वही घट है, यह वही पटी है, यह वही कुण्डल है, गौ के सदृश गवई (एक-नी गाय) होता है । गौ से विलक्षण महिष होता है, यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है,, यह इससे दूर या समीप है, इत्यादि । सूत्रमें ग्रहण किये हुए 'इत्यादी' शब्द से अन्य अनेक प्रकार के संकलज्ञानों को भी प्रत्यभिज्ञान प्रकट किया गया है जैसे–

(क) जिसके शरीर में बहुत रोम हों, लम्बे दांत हों, जो श्यामवर्ण हो, बौना हो, बडी-बडी आँखों वाला चपटी नाक वाला हो, उसे 'चैत्र' समझना ।

---

*१–कभी कभी अकेले दर्शन से और अकेले स्मरण से भी संकलनज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जैसे,-'यह इससे भिन्न है, या वह उससे भिन्न है ।' यहाँ पहला अकेले प्रत्यक्ष से और दूसरा अकेले स्मरण से उत्पन्न होता है ।

पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः ।
सप्तपर्णस्तु विद्वद्भिर्विज्ञेयो विषमच्छदः ॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी ।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥"

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव चैत्रहंसादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा, तदा तदपि संकलनाज्ञानमुक्तम्, दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात् । यथा वा औदीच्येन क्रमेलकं निन्दतोक्तम् 'धिक्करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपशदं पशूनाम्' इति । तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथं गतस्तादृशं वस्तूपलभ्य 'नूनमयमर्थोऽस्य करभशब्दस्य' इति (यदवैति) तदपि दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सङ्कलनाज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

११–येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं प्रमाणान्तरमनुषज्येत । यदाहुः–

(ख) हंस दूध-पानी को अलग कर देता है ।
(ग) भ्रमर छह पैरों वाला होता है ।
(घ) विषमच्छेद सप्तपर्ण (सात पत्तों वाला) कहलाता है ।
(ङ) पाँच वर्णों वाला रत्न मेचक कहलाता है ।
(ज) युवति पृथुस्तनी होती है ।
(छ) गेंडा एक सिंग वाला होता है ।

इस प्रकार के वाक्यों को सुनने के अनन्तर कोई मनुष्य वैसे ही चैत्र या हंस आदि को देख कर जब उन वाक्यों की सचाई का अनुभव करता है, अर्थात् ऐसा जानता है कि यही वह चैत्र, हंस, भ्रमर आदि हैं, तो यह भी संकलन ज्ञान है, क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होते हैं । इन ज्ञानों में पूर्वश्रुत वाक्य का स्मरण तथा उस वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन निमित्त होता है।

किसी उत्तरप्रदेशीय व्यक्ति ने ऊँट की निन्दा करते हुए कहा–'धिक्कार है ऐसे ऊँट को जिसकी गर्दन खूब लम्बी और टेढीमेढी होती है, ओठ लम्बे होते हैं, जो कठोर एवं तीखे काँटों का भक्षण करता है, बेहूदे अवयवों वाला और पशुओं में निकृष्ट होता है ।' यह सुन कर कोई दाक्षिणात्य उत्तरप्रदेश में गया। वहाँ इस प्रकार के पशु को देख कर उसने जाना –ऊँट शब्द का वाच्य-अर्थ यह है ।'यह ज्ञान भी दर्शन और स्मरणहेतुक होने से संकलनज्ञान-प्रत्यभिज्ञान है ।

११–जिन नैयायिकों के मत में सदृशता को जानने वाला उपमाननामक पृथक् प्रमाण माना गया है, उन्हें विलक्षणता आदि को जानने वाला दूसरा कोई प्रमाण मानना पडेगा । कहा भी है–

"उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥"[लघीय० ३. १०]
"इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्राशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥"[लघीय० ३. १२] इति ।

१२–अथ साधर्म्यमुपलक्षणं योगविभागो वा करिष्यत इति चेत्; तर्ह्यकुशलः सूत्रकारः स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहुः–

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

अस्तोभमनधिकम् ।

१३–ननु 'तत्' इति स्मरणम् 'इदम्' इति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यामन्यत् प्रत्यभिज्ञानाख्यं प्रमाणमुत्पश्यामः । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञाविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । पूर्वापराकारैकधुरीणं हि द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः । न च तत् स्मरणस्य गोचरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः-

पूर्वप्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः ।
स एवायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञाऽतिरेकिणी ॥"[तत्त्वसं०का० ४५३]

'प्रसिद्ध पदार्थकी सदृशता से किसी अप्रसिद्ध पदार्थको जानना यदि उपमानप्रमाण है तो प्रसिद्ध पदार्थ के वैधर्म्य (विलक्षणता) से अप्रसिद्ध पदार्थ को जानने वाला कौन-सा प्रमाण कहलाएगा ?
'इसके अतिरिक्त 'यह इससे अल्प है, यह इससे महत् है. यह इस से दूर है, यह इससे लम्बा है, यह इससे लम्बा नहीं है, इस प्रकार के जो सापेक्ष ज्ञान होते हैं, इन्हें भी पृथक् प्रमाण मानना होगा ।'

१२–शंका–साधर्म्य तो नाममात्र है, उससे वैधर्म्य का भी ग्रहण हो जाता है । अथवा उपमानके दो भेद किये जा सकते हैं-साधर्म्य-उपमान और वैधर्म्य-उपमान । ऐसा करने से पूर्वोक्त दोष नहीं रहेगा । समाधान–ऐसा करने से आपके सूत्रकार अकुशल कहलाएँगे, क्योंकि उनका सूत्र, सूत्र के लक्षण से रहित होगा । कहा भी है–
'जो अल्प अक्षर वाला हो, असंदिग्ध हो, सारयुक्त हो, सर्वतोमुखी हो तथा अधिक अक्षरों से रहित हो, उसी को सूत्रवेत्ता निर्दोष सूत्र कहते हैं ।'

१३–शंका–'तत्' (वह) यह स्मरण है और 'इदम्' (यह) प्रत्यक्ष है । ये दो ज्ञान हैं । इनसे अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञाननामक कोई प्रमाण मालूम नहीं देता । समाधान–यह कथन युक्तियुक्त नहीं है । प्रत्यभिज्ञान का जो विषय है, उसे स्मरण और प्रत्यक्ष नहीं जान सकते । पूर्व और उत्तरकालीन पर्यायों में अवस्थित रहनेवाला द्रव्य एकत्व--प्रत्यभिज्ञान का विषय है । इस द्रव्य को स्मरण तो जान नहीं सकता, क्योंकि वह पूर्वानुभूत वस्तु को ही विषय कर सकता है । कहा भी है–'स्मृति पूर्व ज्ञान वस्तु में 'वह' इस रूप में उत्पन्न होती है । प्रत्यभिज्ञान उससे भिन्न है, क्योंकि वह 'यह वही है' इस प्रकार (दोनों अवस्थाओं में रहे एकत्व को) जानता है ।'

नापि प्रत्यक्षस्य गोचरः, तस्य वर्तमानविवर्त्तमात्रवृत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाभ्यामन्यद् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोत्तरकालभाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूतेः । न चानुभूयमानस्यापलापो युक्तः अतिप्रसङ्गात् ।

१४-ननु प्रत्यक्षमेवेदं प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके । नैवम्,तस्य सन्निहितवार्तमानिकार्थविषयत्वात् ।

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लोकवा०सूत्र४श्लो०८४)

इति मा स्म विस्मरः । ततो नातीतवर्तमानयोरेकत्वमध्यक्षज्ञानगोचरः । अथ स्मरणसहकृतमिन्द्रियं तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतीति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयत इति चेत्; न, स्वविषयविनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः । नहि परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुरिन्द्रियमविषये गन्धादौ प्रवर्त्तते । अविषयश्चातीतवर्तमानावस्थाव्याप्येकं द्रव्यमिन्द्रियाणाम् । नाप्यदृष्टसहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति वक्तुं युक्तम् । उक्तादेव हेतोः । किंच, अदृष्टसव्यपेक्षादेवात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वरं वक्तुं युक्तम् । दृश्यते हि स्वप्नविद्यादिसंस्कृतादात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः । ननु यथाञ्जनादिसंस्कृतं चक्षुः सातिशयं भवति तथा स्मरणसह-

---

प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रत्यक्ष के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष सिर्फ वर्तमान पर्याय में ही व्यापार करता है । दर्शन और स्मरण से भिन्न कोई तीसरा ज्ञान नहीं होता' यह तो कहा नहीं जा सकता,क्योंकि स्मरण के पश्चात् होने वाला ज्ञानान्तर अनुभवसिद्ध है । जो अनुभवसिद्ध है उसका अपलाप करना उचित नहीं । ऐसा करने से सब गड़बड़ हो जाएगा ।

१४-वैशेषिक आदि का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, किन्तु यह कहना उचित नहीं है । प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्बद्ध और वर्त्तमानकालीन पदार्थ को ही जानता है । 'चक्षु आदि 'इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्त्तमान को ही ग्रहण करती हैं' इस विधान को विस्मरण मत करो । अतएव अतीत और वर्त्तमान में रहा हुआ-एकत्व प्रत्यक्ष का गोचर नहीं हो सकता ।

शंका-स्मरण की सहायता पाकर इन्द्रिय एकता को विषय करने वाले प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर देती है, इस कारण हम प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । समाधान--इन्द्रिय का स्वरूप अपने विषयको जानने तक ही सीमित है । सैकडों सहायक मिल जाने पर भी उसकी विषयान्तर में प्रवृत्ति नहीं हो सकती सुगंध के स्मरण की सहायता पाकर चक्षु इन्द्रिय गंध आदि को नहीं जान सकती, अतीत और वर्त्तमान अवस्थाओं में रहा हुआ एक द्रव्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतएव वे उसे कैसे जान सकती हैं ?

यह कहना ठीक है कि अदृश्य की सहायता से आत्मा को ही एकत्वविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । स्वप्न तथा विद्या रूप संस्कार वाले आत्मा को विजयान्तर का भी विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, यह बात देखी जाती है ।

शंका-जैसे अंजन आदि के संयोग से चक्षु सातिशय (विशिष्ट) बन जाती है, उसी प्रकार

कृतमेकत्वविषयं भविष्यति । नैवम्, इन्द्रियस्य स्वविषयानतिलङ्घनेनैवातिशयोपलब्धेः, न विषयान्तरग्रहणरूपेण । यदाह भट्टः-

यश्चाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥" [श्लोकवा० सूत्र २ श्लो० ११४]

इति । तत् स्थितमेतत् विषयभेदात्प्रत्यक्षादन्यत्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

१५-न चैतदप्रमाणम् विसंवादाभावात् । क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गो दुर्निवारः । प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिन्नस्य चात्मादीनामेकत्वस्याभावे बन्धमोक्षव्यवस्था नोपपद्यते । एकस्यैव हि बद्धत्वे मुक्तत्वे च बद्धो दुःखिमात्मानं जानन् मुक्तिसुखार्थी प्रयतेत । भेदे त्वन्य एव दुःख्यन्य एव सुखीति कः किमर्थं वा प्रयतेत? । तस्मात्सकलस्य दृष्टादृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वाद्भवति प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति ॥४॥

१६-अथोहस्य लक्षणमाह-

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥५॥

स्मरण की सहायता से एकत्व को जानने लगेगी । समाधान-नहीं । इन्द्रिय में जो अतिशय (वैशिष्ट्य) देखा जाता है, वह अपने विषय को उल्लंघन न करके देखा जाता है । विषयान्तर को ग्रहण करने के रूप में कोई अतिशय नहीं हो सकता । भट्ट ने कहा है-

'इन्द्रिय में जहाँ कहीं भी अतिशय देखा गया है, वह अपने विषय का अतिक्रमण न करके ही देखा गया है । चक्षु में दूर तक या सूक्ष्म वस्तु को देखने का अतिशय हो सकता है, परन्तु रूप में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार तो संभव नहीं हो सकता ।'

१५-प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो, सो बात भी नहीं है । क्योंकि उसके विषय में विसंवाद नहीं होता । किसी तरह विसंवाद होने से उसे सर्वत्र अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जाएगा (क्योंकि कहीं-कहीं प्रत्यक्षदृष्ट पदार्थ में भी विसंवाद हो जाता हैं ।) प्रत्यभिज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाली आत्मा आदि की एकता को ही स्वीकार न किया जाय तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है, ऐसा मानने पर ही यह संगत हो सकता है कि बद्ध जीव अपने आपको दुखी जान कर, मुक्ति-सुख का अभिलाषी हो कर उसके लिये प्रयत्न करता है' यदि पूर्वोत्तर पर्याय में व्याप्त एकत्व न माना जाय तो यह मानना होगा कि बद्ध कोई अन्य होता है और मुक्त कोई अन्य होता है । ऐसी स्थिति में कौन किसके लिए प्रयत्न करेगा समस्त दृष्ट व्यवहारों का आधार द्रव्यगत एकत्व हैं और वह एकत्व प्रत्यभिज्ञा के अधीन है । अतएव प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है ॥४॥

१६-ऊह का लक्षण—

सूत्रार्थ-उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से होने वाला व्याप्तिज्ञान ऊह (तर्क) कहलाता है ॥५॥

१७-'उपलम्भः' प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्यापि साधनस्य सम्भवात्' प्रत्यक्षवदनुमेयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् । 'व्याप्तिः' वक्ष्यमाणा तस्या 'ज्ञानम्' तद्ग्राही निर्णयविशेष 'ऊहः' ।

१८-न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम् । नहि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद् धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च ।

१९-नाप्यनुमानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाता सम्पद्यत इत्येवंभूतभारासमर्थत्वात् । सामर्थ्येऽपि प्रकृतमेवानुमानं व्याप्तिग्राहकम् अनुमानान्तरं वा?। तत्र प्रकृतानुमानात् व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयः । व्याप्तौ हि प्रतिपन्नायामनुमानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरात्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्था तस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्यैव प्रकृतानुमानव्याप्तिग्राहकत्वात् ।

१७-यहाँ उपलब्ध शब्द से प्रमाणमात्र का ग्रहण करना चाहिए, अकेले प्रत्यक्ष का नहीं। साधन प्रत्यक्षगम्य ही नहीं होता, अनुमानगम्य भी हो सकता है। प्रत्यक्ष की तरह अनुमेय पदार्थों में भी व्याप्ति का विरोध नहीं है। व्याप्ति का लक्षण आगे कहा जाएगा, उसका निश्चयात्मक ज्ञान ऊह या तर्क प्रमाण कहलाता है।

१८-व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता, देशान्तर और कालान्तर में अर्थात् तीनों लोकों और तीनों कालो में जो कोई भी धूम है वह सब अग्नि का ही कार्य है। किसी अन्य का नहीं; इतना व्यापार प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। वह तो इन्द्रियसम्बद्ध विषय से ही उत्पन्न होता है और आगे-पीछे का विचार करना उसका काम नहीं है।

१९-अनुमान से भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। व्याप्ति को ग्रहण करते समय प्रमाता योगी के समान हो जाता है अर्थात् त्रिलोक और त्रिकाल संबंधी अविनाभाव को जानता है। परन्तु अनुमान में इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है। कदाचित् इतना बड़ा सामर्थ्य अनुमान में मान लिया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृत अनुमान ही व्याप्ति का ग्राहक होगा या दूसरा कोई अनुमान? प्रकृत अनुमानसे व्याप्ति का ग्रहण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है व्याप्ति का ग्रहण हो जाने पर अनुमान उत्पन्न हो सकता है और अनुमान के उत्पन्न होने पर उससे व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। (व्याप्ति ग्रहण के विना अनुमान संभव नहीं है और क्योंकि अनुमान से ही व्याप्ति ग्रहण होता है, अतएव अनुमान के बिना व्याप्तिग्रहण होना संभव नहीं है।) अगर दूसरे अनुमान से व्याप्तिग्रहण स्वीकार किया जाय तो अनवस्था दोष होता है। क्योकि दूसरा अनुमान भी व्याप्तिग्रहण होने पर ही हो सकेगा और वहाँ व्याप्ति ग्रहण करने के लिये फिर तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। (तीसरा अनुमान भी व्याप्तिग्रहणपूर्वक ही होगा और वहाँ उसके ग्रहण के लिए चौथे अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार की कल्पना का कहीं अन्त नहीं आएगा।

तद्व्याप्तिग्रहश्च यदि स्वत एव, तदा पूर्वेण किमपराद्धं येनानुमानान्तरं मृग्यते। अनुमानान्तरेण चेत्; तर्हि युगसहस्त्रेष्वपि व्याप्तिग्रहणासम्भवः।

२०–ननु यदि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकम् तर्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं ग्रहीष्यतीति चेत्; नैतत्, निर्विकल्पकेन व्याप्तेरग्रहणे विकल्पेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् निर्विकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य। अथ निर्विकल्पकविषयनिरपेक्षोऽर्थान्तरगोचरो विकल्पः; स तर्हि प्रमाणमप्रमाणं वा? प्रमाणत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणान्तरं तितिक्षितव्यम्। अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्ढात्तनयदोहदः। एतेन--'अनुपलम्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावावगमः' इति प्रत्युक्तम्, अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविशेषत्वेन कारणव्यापकानुपलम्भयोश्च लिङ्गत्वेन तज्जनितस्य तस्यानुमानत्वात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां च व्याप्तिग्रहणे दोषस्याभिहितत्वात्।

२१–वैशेषिकास्तु प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्याहुः।

अगर दूसरे अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण स्वतः स्वीकार करो तो पहले अनुमान ने क्या अपराध किया है कि वहाँ भी स्वतः व्याप्तिग्रहण न स्वीकार किया जाय? अनुमानान्तरों की कल्पना करने पर हजारों युग बीत जाने पर भी कभी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकेगा।

२०–शंका–यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविचारक है (इस कारण व्याप्ति को नहीं ग्रहण कर सकता तो न सही), प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला विकल्पज्ञान व्याप्ति को ग्रहण कर लेगा। समाधान–जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता तो विकल्प भी नहीं कर सकता, क्योंकि निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत विषय में ही विकल्प की प्रवृत्ति होती है।

शंका–विकल्प निर्विकल्पक के विषय की अपेक्षा नहीं रखता और उसके द्वारा न जाने हुए अर्थ को भी विषय करता है। समाधान---तो वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से अलग ही प्रमाण मानना चाहिए। (वही अलग प्रमाण ऊह कहलाता है)। यदि विकल्प अप्रमाण है तो उससे व्याप्तिग्रहण की श्रद्धा करना हिजड़े से सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करने के समान है।

पूर्वोक्त विषयविवेचन से इस अभिमत का भी निराकरण हो जाता है कि---'अनुपलम्भ से कारणानुपलम्भ से तथा व्यापकानुपलम्भ से कार्यकारणभाव और व्याप्यव्यापकभाव का ज्ञान हो जाता है।' क्योंकि अनुपलंभ एक प्रकार का प्रत्यक्ष है तथा कारणानुपलंभ और व्यापकानुपलंभ लिंग–साधनरूप हैं। उनसे जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह अनुमान ही कहलाएगा। और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से व्याप्ति ग्रहण मानने में जो दोष आते हैं, वे पहले ही कहे जा चुके हैं।

२१-वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष के फल ऊहापोहरूप विकल्प ज्ञान से व्याप्ति की सिद्धि बताई है,

तेषामप्यध्यक्षफलस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे व्याप्तेरविषयीकरणम्, तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः। अथ व्याप्तिविकल्पस्य फलत्वान्न प्रमाणत्वमनुयोक्तुं युक्तम्; न, एतत्फलस्यानुमानलक्षणफलहेतुतया प्रमाणत्वाविरोधात् सन्निकर्षफलस्य विशेषणज्ञानस्येव विशेष्यज्ञानापेक्षयेति।

२२–यौगास्तु तर्कसहितात् प्रत्यक्षादेव व्याप्तिग्रह इत्याहुः। तेषामपि यदि न केवलात् प्रत्यक्षाद् व्याप्तिग्रहः किन्तु तर्कसहकृतात् र्तािह तर्कादेव व्याप्तिग्रहोऽस्तु। किमस्य तपस्विनो यशोमार्जनेन, प्रत्यक्षस्य वा तर्कप्रसादलब्धव्याप्तिग्रहापलापकृतघ्नत्वारोपेणेति?। अथ तर्कः प्रमाणं न भवतीति न ततो व्याप्तिग्रहणमिष्यते। कुतः पुनरस्य न प्रमाणत्वम्, अव्यभिचारस्तावदिहापि प्रमाणान्तरसाधारणोऽस्त्येव?। व्याप्तिलक्षणेन विषयेण विषयसत्त्वमपि न नास्ति। तस्मात् प्रमाणान्तरागृहीतव्याप्तिग्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५॥

२३–व्याप्तिं लक्षयति—

परन्तु प्रत्यक्ष का फल प्रत्यक्ष (यह घट है, इत्यादि) या अनुमान (यहाँ अग्नि होना चाहिए क्योंकि धूम है, इत्यादि) इन दोनों में से कोई भी एक मानने पर सार्वत्रिक–त्रैकालिक व्याप्ति बन ही नहीं सकती, कारण प्रत्यक्ष का विषय इतना व्यापक नहीं होता। और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न फल मानने पर अन्य प्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा। यदि 'व्याप्तिविकल्प को फल होने के कारण प्रमाण कहना युक्त नहीं होगा' ऐसा कहा जाय तो वह अयुक्त होगा, क्योंकि अनुमानरूप फल का कारण होने से प्रत्यक्ष के फल को प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं आता। जैसे विशेष्य ज्ञान की अपेक्षा से सन्निकर्ष के विशेषण ज्ञान को भी प्रमाण माना गया है।

२२–यौग तर्कसहित प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण मानते हैं। उनके मतानुसार यदि अकेले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता किन्तु तर्कसहित से ही होता है तो उन्हें तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण मानना चाहिए। बेचारे तर्क के यश को नष्ट करने से क्या लाभ ? तर्क के प्रसाद से व्याप्ति का ग्रहण करनेका अपलाप करने की कृतघ्नता प्रत्यक्ष में आरोपित करने से भी क्या लाभ है ?

शंका–तर्क प्रमाण नहीं है, इस कारण उससे व्याप्ति ग्रहण होना न कह कर प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रहण होना कहते हैं। समाधान–तर्क प्रमाण क्यों नहीं है ? जैसे अन्य प्रमाणों में व्यभिचार का अभाव होता है, वैसा इसमें भी है। व्याप्ति उसका विषय है, अतएव वह निर्विषय भी नहीं है। इसप्रकार किसी भी प्रमाणान्तर से न ग्रहण की जाने वाली व्याप्ति को ग्रहण करने वाला ऊह प्रमाण ही है ॥५॥

२३–व्याप्ति का लक्षण–

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥६॥

२४–'व्याप्तिः' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य 'व्याप्ये' धर्म्मे 'सति' यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र 'भाव' एव' व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः : ततश्च व्याप्यभावापेक्षया व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः। नत्वेवमवधार्यते-व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात् अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात्। नापि व्याप्ये सत्येवेत्यवधार्यते,प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेरहेतुत्वापत्तेः,साधारणश्च हेतुः स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात्।

सूत्रार्थ–व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही, अथवा व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना व्याप्ति है ॥६॥

२४–जो व्याप्त करता है (जैसे अग्नि आदि) और जो व्याप्त होता है (जैसे धूम आदि) व्याप्ति उन दोनों का धर्म है। जब व्यापक के धर्म के रूप में व्याप्ति की विवक्षा की जाती है तब व्याप्ति का स्वरूप होता है–व्यापक का (अग्नि आदि साध्य का) व्याप्य (धूमादि) के होने पर होना ही। अर्थात् व्याप्य के होने पर व्यापक का सद्भाव अवश्य होना व्याप्ति है, जैसे धूम के होने पर अग्नि का अवश्य होना। इससे व्याप्यभाव की अपेक्षा से व्याप्य की ही व्याप्तता की प्रतीति होती है।

व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही, ऐसा अवधारण किया गया है, इसके बदले 'व्याप्य के होने पर व्यापक का ही होना' ऐसा अवधारण नहीं किया गया है। यदि ऐसा अवधारण किया होता तो हेतु के अभाव का प्रसंग हो जाता। इसके अतिरिक्त 'व्यापक का ही होना' ऐसा अवधारण करने से जो व्यापक नहीं उन सब का अभाव हो जाता, जब कि 'मूर्त्तत्व आदि अव्यापक भी वहाँ होते हैं।

'व्याप्य' के होने पर ही व्यापकका होना' ऐसा अवधारण भी नहीं किया गया है। ऐसा करते तो 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' आदि अहेतु हो जाते और जो साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है वह भी हेतु हो जाता, क्योंकि नित्यता प्रमेय पदार्थों में ही होती है।

तात्पर्य–यहाँ अवधारण के तीन रूप बतलाए गए हैं, यथा—

(१) व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही।

(२) व्याप्य के होने पर व्यापक का ही होना।

(३) व्याप्य के होने पर ही व्यापक का होना।

इन तीन रूपों में से प्रथम रूप स्वीकार किया गया है, शेष दो रूपों को दूषित होने के कारण अस्वीकार किया गया है।

२५–यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य वा' गमकस्य 'तत्रैव' व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति । अत्रापि नैवमवधार्यते-व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गादव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि-व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति, सपक्षैकदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति ।

२६-व्याप्यव्यापकधर्मतासङ्कीर्तनं तु व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि-पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः?। तदुक्तम्-

"लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः ।
नियमस्य विपर्यासेऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनोः ।।" इति ।।६।।

२७–अथ क्रमप्राप्तमनुमानं लक्षयति-

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ।।७।।

२५–जब व्याप्ति की विवक्षा व्याप्य-धर्म के रूप में की जाती है तब उसका रूप यों होता है–'व्याप्य (गमक-हेतु) का व्यापक के होने पर ही होना ।' अर्थात् जिस पर्वत आदि धर्मों में व्यापक है वहीं व्याप्य का (धूम का) होना, व्यापक के अभाव में न होना ।

यहाँ भी व्यापक के होने पर व्याप्य का ही होना' ऐसा अवधारण नहीं किया गया है; क्योंकि ऐसा अवधारण करने से हेतु के अभाव का प्रसंग हो जाता है; पर्वतादि में अव्याप्य (अग्नि) का भी अस्तित्व होता है । 'जहाँ व्यापक है वहाँ व्याप्य का होना ही' इस प्रकार का अवधारण भी नहीं किया जाता है । ऐसा करने से जो हेतु सपक्ष के एक देश में रहता है वह हेतु नहीं कहलाएगा और साधारण अनेकान्तिक हेत्वाभास भी हेतु हो जाएगा, क्योंकि प्रमेयत्व नित्य पदार्थों में होता ही है ।

२६–व्याप्ति व्याप्य और व्यापक दोनों का धर्म है, ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि वह साध्य और साधन-दोनों में बराबर एक रूप से प्रतीत न हो । वह जब व्याप्य के धर्म रूप में विवक्षित होती है तो [1]अयोगव्यवच्छेद रूप में अवधारण होता है, और जब व्यापक के धर्म के रूप में विवक्षित की जाती है तो [2]अन्ययोगव्यवच्छेद रूप में अवधारण होता है । अतएव दोनों जगह उसका आकार-स्वरूप-एक-सा नहीं हो सकता है । कहा भी है–
'साधन के होने पर साध्य होता ही है, मगर साध्य के होने पर साधन होता भी है और नहीं भी होता है । इस नियम का विपर्यास होने पर साध्य-साधन का सम्बन्ध नहीं बन सकता।।६।।

२७–अनुमान का लक्षण–(सूत्रार्थ)–साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है ।।७।।

---

[1]'होना ही' यह अयोगव्यवच्छेद है, क्योंकि यहाँ अभाव का निषेध किया गया है।

[2]व्यापक के होने पर ही होना, यहाँ व्यापक से अन्य-अव्यापक के होने पर होने का निषेध किया गया है।

२८–साधनं साध्यं च वक्ष्यमाणलक्षणम् । दृष्टादुपदिष्टाद्वा 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' विज्ञानम्' सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ।।७।।

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ।।८।।

२९-'तत्' अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थभेदात् । स्वव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'स्वार्थम्' । परव्यामोहनिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्' ।।८।।

३०-तत्र स्वार्थं लक्षयति-

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ।।९।।

३१–साध्यं विनाऽभवनं साध्याविनाभावः, स्वेनात्मना निश्चितः साध्याविनाभाव एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्' तस्मात्तथाविधात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गिनो 'ज्ञानम्' 'स्वार्थम्' अनुमानम् । इह च न योग्यतया लिङ्गं परोक्षार्थप्रतिपत्तेरङ्गम्, यथा बीजमंकुरस्य, अदृष्टाद् धूमादग्ने-

---

२८–साधन और साध्य का स्वरूप आगे कहा जाएगा । स्वयं देखे हुए या दूसरे के कहे हुए साधन से साध्य का जो सम्यगर्थनिर्णायक ज्ञान होता है वह अनुमान है । जिससे अनुमिति की जाय वह अनुमान है, अर्थात् साधन के ग्रहण और अविनाभाव के स्मरण के पश्चात् होने वाला विज्ञान ।।७।।

अनुमान के भेद–सूत्रार्थ–अनुमान दो प्रकार का है–स्वार्थ और परार्थ ।।८।।

२९–अनुमान के दो भेद हैं–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । जो निज के अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जो परकीय अज्ञान का निवारण करे वह परार्थानुमान । अर्थात् धूम को देख कर स्वयं अग्नि को जान लेना स्वार्थानुमान और दूसरे को अग्नि का ज्ञान कराने के लिए स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा प्रकट करना परार्थानुमान है।।८।।

३०–स्वार्थानुमान का स्वरूप–सूत्रार्थ- अपने द्वारा निश्चित किये हुए अविनाभाव रूप एक लक्षणवाले साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है ।।९।।

३१–साध्य के बिना न होना 'साध्याविनाभाव' कहलाता है । यह साध्याविनाभाव जब स्वयं के द्वारा निश्चित किया गया हो तो स्वनिश्चितसाध्याविनाभाव है । यही साधन का एक मात्र लक्षण है । ऐसे साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान कहलाता है । जैसे बीज अपनी योग्यता के कारण अंकुर का उत्पादक होता है (हम उसे देखें या न देखें), इस प्रकार साधन योग्यता मात्र से साध्य का अनुमापक नहीं होता, ऐसा होता तो अदृष्ट धूम से भी अग्नि का

रप्रतिपत्तेः; नापि स्वनिश्च (स्वविष) यज्ञानापेक्षं यथा प्रदीपो घटादेः, दृष्टादप्यनिश्चिताविनाभावादप्रतिपत्तेः। तस्मात्परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चित' ग्रहणम्।

३२–ननु चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रैलक्षण्यमाचक्षते भिक्षवः। तथाहि-अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम्। अत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम्। एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तो यथा अनित्यानि पृथिव्यादीनि भूतानि गन्धवत्त्वात्। अत्र पक्षीकृतेषु पृथिव्यादिषु चतुर्षु भूतेषु पृथिव्यामेव गन्धवत्त्वम्। सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः। यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमित्युच्येत श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो

अनुमान होने लगता। यह भी नहीं है कि साधन को जान लेने मात्र से ही वह साध्य का ज्ञान करा दे, जैसे कि दीपक घट आदि का ज्ञापक हो जाता है। क्योंकि साधन के दिखाई देने पर भी यदि अविनाभाव निश्चित न हो तो उससे साध्य का ज्ञान होना संभव नहीं है। अतएव जहाँ साधन का ज्ञान होना आवश्यक है, वहीं यह भी आवश्यक है कि परोक्ष पदार्थ (साध्य) के साथ उसका अविनाभाव निश्चित होना चाहिए। यही सूचित करने के लिए सूत्र में 'निश्चित' पद का प्रयोग किया गया है।

३२–शंका–असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए बौद्धों ने हेतु के तीन लक्षण स्वीकार किये हैं–(१) पक्षधर्मत्व (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्षव्यावृत्ति। (१) पक्षधर्मत्व–'पक्ष–अनुमेयधर्मी (पर्वतादि) में हेतु का सत्त्व ही निश्चित होना' यह पहला लक्षण है। यहाँ 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग करके [1]'चाक्षुषत्व' आदि असिद्ध हेतुओं की हेतुता का निराकरण किया गया है। सत्त्व ही' यहाँ 'ही' (एवकार) का प्रयोग करके पक्षैकदेशासिद्ध (जो पक्ष के एक देश में रहे और एक देश में न रहे ऐसे असिद्ध हेतु) का निषेध किया गया है; जैसे-पृथ्वी आदि भूत अनित्य हैं, क्योंकि गन्धवान् हैं। यहाँ पृथ्वी आदि चारों भूत पक्ष हैं किन्तु गन्धवत्त्व हेतु सिर्फ पृथ्वी में पाया जाता है। अतः यह पक्षैकदेशासिद्ध हेत्वाभास है। ऐसे हेतुओं का निषेध करने के लिए यह कहा गया है कि 'पक्ष में सत्त्व ही' होना चाहिए।

'सत्त्व' शब्द के पश्चात् 'ही' का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि जो हेतु असाधारण होता है अर्थात् पक्ष के अतिरिक्त सपक्ष में नहीं पाया जाता वह भी हेतु नहीं हो सकता। यदि 'ही' का प्रयोग सत्त्व के पूर्व में किया होता अर्थात् 'पक्ष में ही सत्त्व' ऐसा कहा होता तो [2]श्रावणही हेतु होता। 'निश्चित पद के प्रयोग से समस्त संदिग्धासिद्ध हेतुओं का निराकरण किया गया है।

१–शब्द नित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है; यहाँ चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध है, क्योंकि पक्ष (शब्द) में उसकी सत्ता नहीं है। २–शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रावण है, यहाँ 'श्रावणत्व' हेतु है।

निरस्तः । सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, स हि न सपक्षे एव वर्तते किं तु विपक्षेऽपि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेर्हेतुत्वमुक्तम्, पश्चादवधारणे हि अयमर्थः स्यात्-सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यत् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वक्तृत्वात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । विपक्षे त्वसत्त्वमेव निश्चितमिति तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्येऽनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति, आकाशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासोऽसत्त्वशब्दात् । पूर्वस्मिन्नवधारणे हि अयमर्थः

---

(२) सपक्षसत्त्व–'सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितं अर्थात् सपक्ष में ही सत्त्व निश्चित होना' यह हेतु का दूसरा लक्षण है । यहाँ भी 'सत्त्व' के ग्रहण से विरुद्ध हेतु का निराकरण किया गया है क्योंकि विरुद्ध हेतु सपक्ष में नहीं रहता । 'ही' (एव) का प्रयोग करके १साधारण अनैकान्तिक हेतु का निषेध किया गया है, क्योंकि वह 'सपक्ष में ही' नहीं रहता वरन् विपक्ष में भी रहता है । 'सत्त्व' शब्द से पूर्व में 'ही' का प्रयोग करके यह प्रकट किया गया है कि सपक्ष में व्याप्त होकर न रहने वाले अर्थात् सपक्ष के एक देश में रहने वाले हेतु भी सम्यक् हेतु होते हैं अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि हेतु सपक्ष में पक्ष की तरह सर्वत्र व्याप्त ही होना चाहिए । यदि 'सत्त्व' के पश्चात् अवधारण करते तो 'सपक्षे सत्त्वमेव' अर्थात् सपक्ष में सत्त्व ही होना हेतु का लक्षण है, ऐसा अर्थ होता । इस प्रकार कहने से 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु न रहता, क्योंकि वह सपक्ष के एक देश में ही रहता है । 'निश्चित' शब्द के प्रयोग से संदिग्धान्वय अनैकान्तिक हेतु का निराकरण किया गया है । जैसे-कोई पुरुष सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता है, यहाँ वक्तृत्व हेतु सपक्ष सर्वज्ञ में संदिग्ध है, निश्चित नहीं है ।

(३) विपक्षासत्त्व–विपक्ष में असत्त्व ही निश्चित होना, यह तीसरा लक्षण है । यहाँ 'असत्त्व' शब्द के प्रयोग से विरुद्ध हेतु का निराकरण किया गया है, क्योंकि विरुद्ध हेतु का विपक्ष में असत्त्व नहीं होता–सत्त्व होता है । 'ही' (एव) के प्रयोग से विपक्ष के एक देश में रहने वाले साधारण अनैकान्तिक हेतु का निषेध किया गया है । २प्रयत्नानन्तरीयकत्व साध्य में प्रयुक्त अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में रहता है, आकाश आदि में नहीं रहता । अतएव 'असत्त्व ही होना' कहने से उसका निषेध हो जाता है ।

यदि असत्त्व से पूर्व अवधारण किया होता तो ऐसा अर्थ निकलता–

१-शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में सर्वत्र रहता है, अतएव साधारण अनैकान्तिक है । २-शब्द प्रयत्नजन्य है, क्योंकि अनित्य है । यहाँ अनित्यत्व हेतु है ।

स्यात्-विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि नास्ति ततो न हेतुः स्यात्ततः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः । तदेवं त्रैरूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारक्षममिति तदेवाभ्युपगन्तुं युक्तमिति किमेकलक्षणकत्वेनेति? ।

३३–तदयुक्तम्,अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः । अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम् । तच्चासिद्धस्य विरुद्धस्य व्यभिचारिणो वा न सम्भवति । त्रैरूप्ये तु सत्यप्यविनाभावाभावे हेतोरगमकत्वदर्शनात्,यथा स श्यामो मैत्रतनयत्वात् इतरमैत्रपुत्रवदित्यत्र । अथ विपक्षान्नियमवती व्यावृत्तिस्तत्र न दृश्यते ततो न गमकत्वम्; तर्हि तस्या एवाविनाभावरूपत्वादितररूपसद्भावेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सैव प्रधानं लक्षणमस्तु । तत्सद्भावेऽपररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च, यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः । न चात्र पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति, केवलमविनाभावमात्रेण

'विपक्ष में ही जो न हो वह हेतु है ।' ऐसी स्थिति में प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु सपक्ष में भी नहीं रहता है, अतः वह हेतु न हो सकता । मगर वह हेतु है, अतएव सत्त्व से पूर्व में अवधारण नहीं किया गया है । 'निश्चित'शब्द के ग्रहण से १संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक अनैकान्तिक हेतु का निराकरण किया गया है ।

३३–समाधान-बौद्धों का यह कहना अयुक्त है । अविनाभाव नियम के निश्चय से ही असिद्धता, विरुद्धता और अनैकान्तिकता, इन तीनों दोषों का परिहार हो जाता है । असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेतुओं में अन्यथानुपपत्ति (अविभाव) नहीं हो सकती । (असिद्धता आदि तीन दोषों को हटाने के लिए तीन लक्षणों की कल्पना करना वृथा है,क्योंकि अविनाभाव से ही ये दोष हट जाते हैं ।) बल्कि उक्त त्रैरूप्य के होने पर भी जहाँ अविनाभाव नहीं होता, वहाँ हेतु गमक नहीं होता । उदाहरणार्थ-गर्भस्थ मैत्रपुत्र श्याम है, क्योंकि वह मैत्रपुत्र है, अन्य मैत्रपुत्रों के समान । यहाँ आपके माने तीनों रूप विद्यमान हैं, फिर भी यह हेतु गमक नहीं है ।

शंका–यहाँ नियमतः विपक्षव्यावृत्ति न होने के कारण यह अनुमान गमक नहीं है । समाधान–नियमतः विपक्षव्यावृत्ति हो तो अविनाभाव है । शेष दो लक्षणों (पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व) के होने पर भी यदि विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में हेतु अपने साध्य का गमक नहीं होता तो विपक्षव्यावृत्ति को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए । जहाँ विपक्षव्यावृत्ति होती है वहाँ शेष दो लक्षण न हों तो भी हेतु गमक हो जाता है । उदाहरणार्थ- अद्वैतवादी के मत में भी प्रमाण हैं, क्योंकि प्रमाणों के अभाव में वह इष्ट का साधन और अनिष्ट का निषेध नहीं कर सकता ।' यहाँ न पक्षधर्मता है और न सपक्षसत्ता है, फिर भी आविनाभाव के बल से हेतु गमक होता ही है ।

१-यह पुरुष असर्वज्ञ है,क्योंकि वक्ता है । यहाँ वक्तृत्व हेतु विपक्ष-सर्वज्ञ में भी रह सकता है ।

गमकत्वोपपत्तिः । ननु पक्षधर्मताऽभावे श्वेतः प्रासादः काकस्य कार्ष्ण्यादित्यादयोऽपि हेतवः प्रसज्येरन्; नैवम्, अविनाभावबलेनैवापक्षधर्माणामपि गमकत्वाभ्युपगमात् । न चेह सोऽस्ति । ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्, सति तस्मिन्नसत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात् । न तु त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम् अव्यापकत्वात् । तथा च सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र मूर्द्धाभिषिक्ते साधने सौगतैः सपक्षेऽसतोऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमिष्यत एव तदुक्तम्-

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?।।" इति ।

३४-एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैयायिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्याप्यविनाभावप्रपञ्चत्वात् । तथाहि-त्रैरूप्यं पूर्वोक्तम् अबाधितविषयत्वम्,असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि । तत्र प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णस्तेजोवयवी कृतकत्वात् घटवत् । ब्राह्मणेन सुरा पेया (द्रव) द्रव्यत्वात् क्षीरवत् इति ।

शंका-पक्षधर्मता के अभाव में अर्थात् हेतु के पक्ष में न रहने पर भी यदि वह गमक हो जाय तो-'यह प्रासाद धवल है, क्योंकि काक काला है,' इस प्रकार के हेतु भी गमक हो जाएँगे। (यहाँ 'काक का कालापन' हेतु है और यह हेतु पक्ष-प्रासाद-में नहीं है । अतः हेतु गमक नहीं होता। यदि पक्षधर्मता के अभाव में भी हेतु को गमक माना जाएगा तो यह हेतु भी गमक हो जाएगा ।)

समाधान पक्षधर्मता न होने पर भी अविनाभाव के होने पर ही हेतु गमक होता है । इस अनुमान में अविनाभाव नहीं है, इस कारण यह गमक नहीं है अतएव अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान लक्षण स्वीकार करना चाहिए । अगर अविनाभाव होगा तो त्रैरूप्य के न होने पर भी हेतु गमक हो जाएगा । इस के अतिरिक्त हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्यापक होने के कारण संगत नहीं हो सकता । बौद्धों का प्रधान अनुमान है-'सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत् अर्थात् अर्थक्रियाकारी हैं । 'इस अनुमान में सपक्षसत्त्व नहीं है (क्योंकि सर्व पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है) फिर भी वे हेतु को गमक मानते हैं । कहा भी है-

'जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ त्रिरूपता का प्रयोजन ही क्या है? (वह व्यर्थ है क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के ही बल से हेतु गमक हो जाएगा ।) और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ भी त्रिरूपता से क्या लाभ? (त्रिरूपता के होने पर भी अन्यथानुपपत्ति के अभाव में हेतु गमक नहीं हो सकता ।)

३४-नैयायिक हेतु के पाँच लक्षण मानते हैं-पूर्वोक्त तीन और अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व । यह पाँच लक्षण हैं । बौद्धमत के निराकरण से इसका भी निराकरण हो जाता है । प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण से बाधित साध्य के अनन्तर हेतु का प्रयोग करना बाधितविषयत्व है । जैसे-अवयवी रूप अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि वह कृतक है, कृतक उष्ण नहीं होता, जैसे घट । (यहाँ अग्नि की अनुष्णता साध्य स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष से बाधित है । अतएव कृतकत्व हेतु प्रत्यक्षबाधितविषय कहलाया ।) ब्राह्मण को सुरा पेय है । क्योंकि वह द्रव (तरल) है, जैसे क्षीर ।

तन्निषेधादबाधितविषयत्वम्। प्रतिपक्षहेतुबाधितत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं यथाऽनित्यः शब्दो-नित्यधर्मानुपलब्धेः। अत्र प्रतिपक्षहेतुः--नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरिति। तन्निषेधादसत्प्रतिपक्षत्वम्। तत्र बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य चाविनाभावाभावादविनाभावेनैव रूपद्वयमपि सङ्गृहीतम्। यदाह–"बाधाविनाभावयोर्विरोधात्"[हेतु०परि० ४] इति। अपि च, स्वलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तद्दोषेणैव दोषद्वयमिदं चरितार्थं किं पुनर्वचनेन? । तत् स्थितमेतत् साध्याविनाभावैकलक्षणादिति ॥९॥

३५–तत्राविनाभावं लक्षयति–

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

३६–'सहभाविनोः' एकसामग्र्यधीनयोः फलादिगतयो रूपरसयोः व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वयोः, 'क्रमभाविनोः' कृत्तिकोदयशकटोदययोः, कार्यकारणयो-

---

यहाँ साध्य (सुरा का पेयत्व)आगम से बाधित है। अतएव द्रवत्व हेतु आगमबाधित विषय है।है) जिस हेतु में यह दोनों न हों वह अबाधित विषय कहलाता है। जो हेतु अपने विरोधि दूसरे हेतु से बाधित हो वह सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। यथा-'शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्यता की उपलब्धि नहीं होती।' इसका विरोधी हेतु यह है-'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्यता की उपलब्धि नहीं होती' इस हेतु से प्रथम हेतु बाधित हो जाने के कारण सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। जिस हेतु में यह दोष न हो वह असत्प्रतिपक्ष है। किन्तु जो हेतु बाधितविषय या सत्प्रतिपक्ष होता है, उसमें अविनाभाव हो ही नहीं सकता। अतएव अविनाभाव को हेतु का लक्षण स्वीकार करने से ही इन दोनों लक्षणों का ग्रहण हो जाता है। कहा भी है-'बाधा और अविनाभाव का विरोध है।' अर्थात् जहाँ किसी प्रकार का हेतु दोष है, वहाँ अविनाभाव नहीं हो सकता और जहाँ अविनाभाव है वहाँ कोई भी हेतुदोष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त-हमने पक्ष का जो लक्षण १कहा है वह यहाँ घटित नहीं होता। अतएव पक्ष के दोषों में ही यह दोनों दोष अन्तर्गत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें अलग कहने की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि साध्य का प्रत्यक्षादि से बाधित होना पक्ष का दोष है। पक्ष के दोष से अनुमान दूषित हो जाता है। अतएव इन्हें अलग हेतु दोष मानना पुनरुक्ति मात्र है। इस प्रकार साध्य के साथ अविनाभाव होना ही हेतु का एक मात्र लक्षण है। ऐसे हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है ॥९॥

३५–अविनाभाव का लक्षण–

सूत्रार्थ-सहभावियों का सहभावनियम और क्रमभावियों का क्रमभावनियम अविनाभाव कहलाता है ॥१०॥

३६–एक ही सामग्री के अधीन, फलादि में रहे हुए रूप और रस अर्थात् सहचर तथा व्याप्य और व्यापक संबंधवाले शिंशपात्व और वृक्षत्व सहभावी हैं। कृत्तिकोदय और शकटोदय

१–देखिए इसी आह्निक का सूत्र १३–१४ वाँ।

श्च धूमधूमध्वजयोर्यथासङ्ख्यं यः 'सहक्रमभावनियमः'–सहभाविनोः सहभावनियमः क्रमभाविनोः क्रमभावनियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाल्लभ्यते सः अविना–भावः ॥१०॥

३७–अथैवंविधोऽविनाभावो निश्चितः साध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम् । तन्निश्चयश्च कुतः प्रमाणात्? । न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्यैन्द्रियकस्य सन्निहितविषयविनियमितव्यापारत्वात् । मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथापीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः । अन्यथान्ध-बधिराद्यभावप्रसङ्गः । सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते,न स्वातन्त्र्येण । योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावग्रहणेऽनुमेयार्थप्रतिपत्तिरेव ततोऽस्तु, किं तपस्विनाऽनुमानेन?। अनुमानात्त्वविनाभावनिश्चयेऽनवस्थेतरेतराश्रय-दोषप्रसङ्ग उक्त एव । न च प्रमाणान्तरमेवंविधविषयग्रहणप्रवणमस्तीत्याह–

ऊहात् तन्निश्चयः ॥११॥

३८–'ऊहात् तर्कादुक्तलक्षणात्तस्याविनाभावस्य 'निश्चयः' ॥११॥

जैसे पूर्वचर-उत्तरचर,तथा धूम औरअग्नि जैसे कार्य-कारण क्रमभावी कहलाते हैं । इनमें से सहभावी पदार्थों का सहभावनियम और क्रमभावी पदार्थों का क्रमभावनियम अविनाभाव कहलाता है । प्रकरण से साध्य और साधन का सह-क्रमभावनियम समझना चाहिए ॥१०॥

३७-प्रश्न इस प्रकार का अविनाभाव जब निश्चित हो तो ही साध्य के ज्ञान का कारण होता है , ऐसा कहा गया है । अब प्रश्न यह है कि अविनाभाव का निश्चय किस प्रमाण से होता है?प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निश्चायक नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियज प्रत्यक्ष सन्निहित विषय तक ही सीमित है । मन यद्यपि सर्व पदार्थों को विषय करता है तथापि इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थों में ही उसकी प्रवृत्ति होती है । अगर मन इन्द्रिय-अगृहीत पदार्थों को भी जानता तो कोई अन्धा या बहिरा आदि न होता-मनसे ही रूप एवं शब्द का ज्ञान हो जाता । फिर भी मन को जो सर्व-विषयक कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि वह सभी इन्द्रियों के विषय को जान सकता है; यह अभिप्राय नहीं है कि वह स्वतन्त्र–इन्द्रियनिरपेक्ष रूप से भी जानता है । अगर योगिप्रत्यक्ष से अविनाभाव का ग्रहण माना जाय तो उससे तो अनुमेय पदार्थ ही साक्षात् जाना जा सकता है । वहाँ बेचारे अनुमान की क्या आवश्यकता है?

अनुमान प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय होना माना जाय तो अनवस्था और इतरेत-राश्रय दोषों का प्रसंग होता है । यह पहले ही (सूत्र ५ में)कहा जा चुका है । प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है जो इस प्रकार के विषय को ग्रहण करने में समर्थ हो सके । इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्र में दिया गया है ।

सूत्रार्थ–ऊह अर्थात् तर्क नामक प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय होता है॥११॥

३८–ऊह प्रमाण का लक्षण पहले ही बतलाया जा चुका है । उसी से अविनाभाव-व्याप्ति का निश्चय होता है ॥११॥

३९–लक्षितं परीक्षितं च साधनम् । इदानीं तत् विभजति–

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥१२॥

४०–स्वभावादीनि चत्वारि विधेः साधनानि,विरोधि तु निषेधस्येति पञ्चविधम् साधनम्। 'स्वभावः' यथा शब्दनित्यत्वे साध्ये कृतकत्वं श्रावणत्वं वा ।

४१-ननु श्रावणत्वस्यासाधारणत्वात् कथं व्याप्तिसिद्धिः?। विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्येवेति ब्रूमः । न चैवं सत्त्वमेव हेतुः तद्विशेषस्योत्पत्तिमत्त्व-कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्व-प्रत्ययभेदभेदित्वादेरहेतुत्वापत्तेः । किंच,किमिदमसाधारणत्वं

३९-साधन का लक्षण और परीक्षण किया जा चुका। अब उसके भेदों की प्ररूपणा की जाती है-सूत्रार्थ-स्वभाव,कारण,कार्य एकार्थसमवायी और विरोधी,यह पाँच प्रकार का साधन है ॥१२॥

४०–स्वभाव आदि चार साधन विधि के साधक हैं और विरोधी साधन निषेध का साधक है । इस प्रकार साधन के पाँच प्रकार हैं । इन के स्वरूप निम्नलिखित हैं–

(१) स्वभाव हेतु--शब्द की अनित्यता सिद्ध करने में 'कृतकत्व' या१ 'श्रावणत्व' हेतु स्वभाव-साधन है ।

४१--शंका--'श्रावणत्व' हेतु असाधारण है-पक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र (सपक्षमें) नहीं पाया जाता; अतएव उसकी साध्य के साथ व्याप्ति कैसे सिद्ध हो सकेगी?

समाधान--अनित्यत्व से विपरीत नित्यत्व में बाधक प्रमाण विद्यमान है । उस बाधक प्रमाण के बल से ही व्याप्ति सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह है कि-शब्द उच्चारण से पहले श्राव्य नहीं था, उच्चारण करते ही श्राव्य हो गया । नित्य में इस प्रकार अवस्थान्तर संभव नहीं है । इस बाधक प्रमाण के बल से 'श्रावणत्व' हेतु की 'अनित्यत्व' साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध होती है । स्वयं बौद्धों का माना हुआ 'सत्त्व' हेतु भी सपक्ष में नहीं रहता, फिर भी वे क्षणिकत्व के साथ उसकी व्याप्ति स्वीकार करते २हैं । केवल 'सत्त्व' ही एक मात्र ऐसा हेतु है जो असाधारण होकर भी गमक हो सकता है; ऐसी बात नहीं है । अन्यथा सत्त्व के ३विशेष जो उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व, प्रयत्नानन्तरीयकत्व और प्रत्ययभेदभेदित्व आदि हेतु हैं, वे सब अहेतु हो जाएँगे । इसके अतिरिक्त असाधारण हेतु किसे कहते हो? यदि सिर्फ पक्ष में ही रहना हेतु की असाधारणता है तो सब पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त आप का 'सत्त्व' हेतु

१–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है, अथवा–क्योंकि वह श्रावण है । यहाँ कृतकत्व और श्रावणत्व स्वभाव नामक साधन हैं ।२–सब पदार्थ क्षणिक हैं,क्योंकि सत् हैं । यहाँ सत्त्व हेतु भी पक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता । ३-सत्त्व का अर्थ अर्थक्रियाकारित्व है, अतएव श्रावणत्व भी एक प्रकार का सत्त्व ही है । इसी प्रकार हेतुओं के लिए यथायोग्य समझ लेना चाहिए ।

नाम?। यदि पक्ष एव वर्तमानत्वम् ; तत् सर्वस्मिन् क्षणिके साध्ये सत्त्वस्यापि समानम् । साध्यधर्मवतः पक्षस्यापि सपक्षता चेत्; इह कः प्रद्वेषः?। पक्षादन्यस्यैव सपक्षत्वे लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवदित्यत्र पार्थिवत्वमपि लोहलेख्यतां वज्रे गमयेत् | अन्यथानुपपत्तेरभावान्नेति चेत्; इदमेव तर्हि हेतुलक्षणमस्तु । अपक्षधर्मस्यापि साधनत्वापत्तिरिति चेत्; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति शकटोदये कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्भावे संवादिन उपदेशस्य गमकत्वदर्शनात् | काकस्य कार्ष्ण्यं न प्रासादे धावल्यं विनानुपपद्यमानमित्यनेकान्तादगमकम् | तथा, घटे चाक्षुषत्वं शब्देऽनित्यतां विनाप्युपपद्यमानमिति । तन्न श्रावणत्वादिरसाधारणोऽप्यनित्यतां व्यभिचरति । ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् द्रव्येऽप्यनित्यता प्राप्नोति । नैवम्,पर्यायाणामेवानित्यतायाः साध्यत्वात्,अनुक्तमपीच्छाविषयीकृतं साध्यं भवतीति किं स्म प्रस्म-

---

भी असाधारण होना चाहिए । अगर वहाँ साध्य धर्म वाले पक्ष को ही सपक्ष मान लेते हो तो यहाँ भी ऐसा मान लेने में क्या द्वेष है? यदि ऐसा कहते हो कि सपक्ष, पक्ष से भिन्न ही होना चाहिए तो 'वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे काष्ठ ।' यहाँ पार्थिवत्व हेतु वज्र में लोहलेख्यता का गमक होना चाहिए (क्योंकि यहाँ पक्ष से भिन्न सपक्ष विद्यमान है।) यदि कहो कि पार्थिवत्व के साथ लोहलेख्यता का अविनाभाव नहीं है, इस कारण वह गमक नहीं है तो फिर अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण स्वीकार करना चाहिए । सपक्षसत्त्व हो या न हो)

शंका-यदि अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण मान लिया जाय और सपक्षसत्त्व न होने पर भी हेतु गमक हो जाय तो पक्ष धर्मता के बिना भी हेतु, गमक होने लगेगा । समाधान–यदि अविनाभाव विद्यमान हो तो भले गमक हो जाय,पक्ष धर्मता के बिना भी शकटोदय साध्य में कृत्तिकोदय हेतु १गमक होता है और सर्वज्ञ के सद्भाव में संवादक उपदेश गमक देखा २जाता है (यद्यपि यहाँ पक्षधर्मता नहीं है । 'प्रासाद धवल है, क्योंकि कौवा काला है,' यहाँ हेतु अविनाभावी है अर्थात् काक की कृष्णता की प्रासाद की धवलता के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं है । इसी कारण अनैकान्तिक होने से यह हेतु गमक नहीं होता है ।

इसी प्रकार 'शब्द अनित्य है,क्योंकि घट चाक्षुष है'यह हेतु भी पक्षधर्मता के अभाव के कारण अगमक नहीं है, किन्तु अविनाभाव के अभाव के कारण अगमक है । घट में चाक्षुषता शब्द में अनित्यता के बिना भी हो सकती है । तात्पर्य यह है कि हेतु भले समक्ष या पक्ष में न रहता हो,किन्तु यदि साध्य के साथ उसका अविनाभाव निश्चित है तो वह गमक हो ही जाता है । प्रस्तुत में 'श्रावणत्व' हेतु असाधारण अर्थात् सपक्ष में न रहता हुआ भी अनित्यत्व का अविनाभावी है ।

१–एक मुहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है ।

२–कोई पुरुष सर्वज्ञ है, क्योंकि ज्योतिष ज्ञान में संवाद की अन्यथानुपपत्ति है ।

रति भवान्? । ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्,साध्यवच्च साधनस्य साध्यत्वं प्रसजति । सत्यमेतत्,किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः। यदाह-

"सादेरपि न सान्तत्वं व्यामोहाद्योऽधिगच्छति ।
साध्यसाधनतैकस्य तं प्रति स्यान्न दोषभाक् ॥"

४२-'कारणं' यथा बाष्पभावेन मशकवर्तिरूपतया वा सन्दिह्यमाने धूमेऽग्निः, विशिष्टमेघोन्नतिर्वा वृष्टौ । कथमयमाबालगोपालाविपालाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोपलब्धः सूक्ष्मदर्शिनापि न्यायवादिना?। कारणविशेषदर्शनाद्धि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते । स तु विशेषो ज्ञातव्यो योऽव्यभिचारी । कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत्; अस्त्वसौ लिङ्गविशेषनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः, फले तु भाविनि नानुमानादन्यन्निबन्धनमुत्पश्यामः । क्वचिद् व्यभिचारात् सर्वस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः । बाष्पादेरकार्यत्वान्नेति चेत्; अत्रापि यत् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः।

शंका—ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे इत्यादि । शब्द कृतक होने से यदि अनित्य सिद्ध किया जाय तो पर्याय के समान द्रव्य में भी अनित्यता प्राप्त होगी। समाधान-नहीं,क्योंकि पर्यायों की अनित्यता ही साध्य है । शब्द द्वारा न कहने पर भी जो इष्ट होता है, वही साध्य होता है, यह बात आप कैसे भूल जाते हैं ? शंका--कृतकत्व और अनित्यत्व में यदि तादात्म्य संबंध है (और कृतकत्व साधन तथा अनित्यत्व साध्य है) तो साधन के समान साध्य भी सिद्ध होना चाहिए और साध्य के समान साधन भी असिद्ध होना चाहिए । समाधान-ठीक है; तथापि भ्रम को दूर करने के लिए ऐसा अनुमानप्रयोग किया जाता है । कहा भी है-

जो व्यामोह के कारण सादि अर्थात् कृतक वस्तु की भी अनित्यता स्वीकार नहीं करता, उसके लिए एक ही धर्म को साध्य और साधन बना लेना भी दोषास्पद नहीं है ।'

४२-(२)-कारण हेतु-कहीं-कहीं कारण भी हेतु होता है । जैसे किसी को धूम में बाष्प या मशकों की वातो का संदेह हो रहा हो तो वहाँ धूम का निश्चय करने में अग्नि हेतु होता है। अथवा वृष्टि के अनुमान में विशिष्ट मेघों की उन्नति हेतु होती है । विशिष्ट मेघों को चढ़ा देख कर वर्षा का अनुमान तो बालक, गोपालक,गड़रिया और स्त्रियों में भी प्रसिद्ध है। फिर सूक्ष्मदर्शी न्यायवादी (बौद्ध-धर्मकीर्ति) इसे क्यों नहीं समझ पाते ? कारणविशेष अर्थात् अविकल कारण को देख कर सभी कार्यार्थी प्रवृत्ति करते हैं । हाँ, 'विशेष' वही समझना चाहिए जो अव्यभिचारी हो अर्थात् जिसकी विद्यमानता में कार्य की उत्पत्ति अवश्य ही हो। शंका--कारणता के निश्चय से हो प्रवृत्ति होती है । समाधान--कारणविशेष का निश्चय प्रत्यक्ष से भले ही हो जाय, किन्तु भविष्य में होने वाले फल (कार्य) का निश्चय तो अनुमान के अतिरिक्त किसी से हो नहीं सकता । कहीं-कहीं कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता,ऐसे व्यभिचार को देख कर यदि सभी करणों को अहेतु माना जाय तो कार्य भी अहेतु हो जायेगा । अगर कहा जाय कि कार्य कारण से कभी व्यभिचरित नहीं होता, और धूम के रूप में समझ लिये जाने वाले वाष्प आदि जो व्यभिचारी देखे जाते हैं, वे वास्तव में कार्य ही नहीं हैं,तो यही तर्क कारणहेतु के विषय में भी स्वीकार करना चाहिए।

यथैव किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित कारणम् । यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः । अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदाह–

"एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः ।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [प्रमाणवा० १.१०] इति ।

४३–न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम् । तत् कुतो विज्ञायत इति चेत्; अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञनं तु प्रायः पांशुरपादानामप्यस्ति । यदाहुः–

जो कार्य जिस कारण के होने पर भी न हो, वह वास्तव में उस कार्य का कारण ही नहीं कहा जा सकता । जैसे किसी कारण के प्रति ही कोई कार्य कहलाता है वैसे ही किसी कार्य के प्रति ही कोई कारण कहलाता है । जैसे अजनक की अपेक्षा कार्यत्व नहीं माना जाता, उसी प्रकार अजन्य के प्रति कारणत्व भी नहीं माना जाता । तात्पर्य यह है कि जो वस्तु नियमपूर्वक जिस कारण से उत्पन्न होती है, वही उसका कार्य कहलाती है । यदि उस कारण के होने पर भी वह वस्तु उत्पन्न न हो तो वह उसका कार्य नहीं कहलाती । इसी प्रकार कारण वही है जो अवश्यमेव कार्य को उत्पन्न करे । यदि उसके होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो उसे कारण ही नहीं कहा जा सकता । इस दृष्टि से कार्य हेतु और कारण हेतु में कोई अन्तर नहीं हैं–दोनों ही अव्यभिचरित हैं । इसके अतिरिक्त एक बात और भी है । बौद्ध वर्त्तमानकालीन रस से उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान करते हैं । वह सामग्री पूर्वक्षणवर्त्ती रस और रूपादिक हैं, क्योंकि पूर्वक्षणवर्त्ती रस वर्त्तमानकालीन रस में उपादान कारण और रूपादि सहकारी कारण होते हैं । यह सभी मिलकर सामग्री कहलाते हैं । यह वर्त्तमानकालीन रस से पूर्वक्षणवर्त्ती रस रूप आदि का अनुमान करना कार्य से कारण का अनुमान है । तत्पश्चात् ये पूर्ववर्त्तीरूप से वर्त्तकालीन रूप का अनुमान करते हैं । अर्थात् पूर्वक्षणवर्त्ती रूप ने निमित्त कारण हो कर जब वर्त्तमानकालीन रस को उत्पन्न किया है तो उपादान कारण होकर वर्त्तमानकालीन रूप को भी उत्पन्न किया होगा, इसप्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान करते हैं । अतएव उन्हें कारण को भी हेतु स्वीकार करना चाहिए । कहा भी है–'एक सामग्री के अधीन रूप आदि का रस से ज्ञान होता है । हेतु के धर्म के अनुमान से धूम और इन्धनविकार के समान ।'

४३–हम भी जिस किसी कारण को हेतु नहीं कहते, किन्तु जहाँ मंत्रादि के द्वारा कारण की शक्ति में प्रतिबन्ध (रुकावट) न किया गया हो और दूसरे सहकारी कारणों की विकलता (अपुर्णता) न हो, वहीं कारण को हेतु मानते हैं (क्योंकि ऐसा समर्थ हेतु कार्य को उत्पन्न किये विना रह नहीं सकता) शंका–मगर यह कैसे जाना जाय कि कारण का सामर्थ्य प्रतिबद्ध नहीं है और कारणान्तर की विकलता नहीं है ? समाधान–विगुण कारण से सगुण कारण में अन्तर होता ही है । उस अन्तर को गँवार हलवाहे भी समझ लेते हैं । कहा भी है–

गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम० पृ०१२९]
"रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥" [न्याय. म. १२९] इति ।

४४-'कार्यम्' यथा वृष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कृशानौ धूमः,चैतन्ये प्राणादिः । पूरस्य वैशिष्ट्यं कथं विज्ञायत इति चेत्; उक्तमत्र नैयायिकैः । यदाहुः-

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहलशेवालफलशाद्वलसङ्कुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न न वेदितुम्? ॥" (न्यायम०पृ०१३०)

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिश्चयो न दुष्करः । यदाहुः-

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥" (प्रमाणवा० १.३५)

'जो मेघ अपनी गंभीर गर्जना से पर्वत की गुफाओं को भेद डालते हैं,जिनमें चमचमाती हुई बिजली होती है और उसके कारण जिन मेघों में पीलापन आता है जो ऊँचे होते हैं और जिनका वर्ण भ्रमर, गवल (भैंस का सींग) सर्प, और तमाल के समान मलीन होता है, प्रायः इस प्रकार के मेघों के होने पर अवश्य वृष्टि होती है ।'

(३) कार्यहेतु-जैसे वर्षा के अनुमान में विशिष्ट नदीपूर, अग्नि के अनुमान में धूम, चैतन्य के अस्तित्व में प्राणादि हेतु १कार्यहेतु हैं ।

शंका-पूर की विशिष्टता कैसे जानी जा सकती? समाधान-नैयायिकों ने इस सम्बन्ध में ऐसा कहा है- यदि नदी का जल आवर्तों से युक्त, विशाल और मलीन हो, हिलोरों की जबर्दस्त टक्करों से स्पष्ट दिखाई देने वाले फेनों की धरा से युक्त हो, बहते हुए सेवार, फल और घासफूस आदि से व्याप्त हो, तो वह विशिष्ट नदीपूर है । ऐसा विशिष्ट नदीपूर जाना न जा सकता हो, ऐसी बात नहीं है'

धूम अग्नि का कार्य है और प्राणादि चैतन्य के कार्य हैं, इस तथ्य का निर्णय करना भी कठिन नहीं है । कहा भी है-

धूम,अग्नि का कार्य है,क्योंकि उसमें कार्य का धर्म पाया जाता है-वह कारण (अग्नि) के होने पर ही होता है और उसके अभाव में नहीं होता है । यदि धूम अग्नि के अभाव में हो तो वह अपने अग्निकार्यत्व का उल्लंघन करे अर्थात् अग्नि का कार्य ही न हो ।'

१-ऊपर कहीं वर्षा हुई है, क्योंकि नदी में विशिष्ट पूर आ रहा है,पर्वत में अग्नि है,क्योंकि धूम दिखाई देता है, यह शरीर चैतन्यवान् है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदि हैं ।

४५-कारणाभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्वमन्यहेतुत्वं वा भवेत् । अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत् । अन्यहेतुत्वे दृष्टादन्यतोऽपि भवतो न दृष्टजन्यता अन्याभावेऽपि दृष्टाद्भवतो नान्यहेतुकत्वमित्यहेतुकतैव स्यात् । तत्र चोक्तम्–"यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलब्धो न तस्य धूमत्वं हेतुभेदात् । कारणं च वह्निर्धूमस्य इत्युक्तम् ।" अपि च-

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ।।" (प्रमाणवा० १.३७) इति ।

४६–तथा चेतनां विनानुपपद्यमानः कार्यं प्राणादिरनुमापयति तां श्रावणत्वमिवानित्यताम् विपर्यये बाधकवशात्सत्त्वस्येवास्यापि व्याप्तिसिद्धेरित्युक्तप्रायम् । तन्न प्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति ।

४७--किंच, नान्वयो हेतो रूपं तदभावे हेत्वाभासाभावात् । विपक्ष एव सन् विरुद्धः, विपक्षेऽपि-अनैकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्यापि व्यतिरेकाभाव एव हेत्वाभासत्वे निमित्तम्, नान्वयसन्देह इति न्यायवादिनापि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वा-

---

४५–कारण के अभाव में भी कार्य होता है तो या तो वह निर्हेतुक समझा जाएगा या अन्य हेतुक । यदि वह निर्हेतुक है तो उसको सदैव सत्ता या सदैव असत्ता होनी चाहिए । यदि वह अन्यहेतुक है तो दृष्ट कारण जन्य नहीं होगा और अन्य कारण के अभाव में दृष्ट कारण से जनित होगा तो अन्य कारण भी नहीं रहेगा । इस प्रकार अनियत हेतुक होने से उसे निर्हेतुक ही मानना पडेगा । कहा भी है–'जिसकी उत्पत्ति अन्य कारण से भी होती देखी जाती है, वह वस्तुतः धूम ही नहीं है, क्योंकि उसका कारण दूसरा है । धूम का कारण तो अग्नि है । अर्थात् यह निश्चय है कि धूम का उद्भव अग्नि से ही होता है, ऐसी स्थिति में जो अग्नि के सिवाय किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है उसे धूम ही नहीं समझना चाहिए । और भी कहा है--

इन्द्रमूर्धा यदि अग्निस्वभाव है तो वह अग्नि ही है । और यदि वह अग्निरूप नहीं है तो वहाँ तो कैसे हो सकता है ?

४६-इसी प्रकार चेतना के बिना नहीं होने वाला प्राणादि कार्य (श्वासोच्छ्वासादि) चेतना का अनुमापक होता है,जैसे श्रावणत्व हेतु अनित्यता का अनुमापक होता है । यह तो पहले कह ही चुके हैं कि विपर्यय में बाधक प्रमाण होने से प्राणादि हेतु की सत्त्व हेतु के समान व्याप्ति सिद्ध होती है । अतएव प्राणादि हेतु असाधारण अर्थात् सपक्षसत्त्व से रहित होने पर भी चेतना से व्यभिचरित नहीं है ।

४७–इसके अतिरिक्त अन्वय हेतु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि अन्वय के अभाव में भी कोई हेतु हेत्वाभास नहीं होता । जो हेतु विपक्ष में ही रहता है, वह विरुद्ध कहलाता है, जो विपक्ष में भी (और सपक्ष में भी) रहता है, वह अनैकान्तिक होता है । सर्वज्ञत्व साध्य में वक्तृत्व हेतु जो हेत्वाभास है सो व्यतिरेक के अभाव के कारण है अन्वय में सन्देह होने से नहीं । न्यायवादी (धर्मकीर्ति) ने भी व्यतिरेक के न बनने से भी हेत्वाभास कहे हैं । किसी असाधारण हेतु के विषय में

भासावुक्तौ । असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽसन्निति निश्चीयेत तदा प्रकारान्तरा भावात्साध्यमुपस्थापयन्नानैकान्तिकः स्यात् । अपि च यद्यन्वयो रूपं स्यात् तदा यथा विपक्षैकदेशवृत्तेः कथञ्चिदव्यतिरेकादगमकत्वम्, एवं सपक्षैकदेशवृत्तेरपि स्यात् कथञ्चिदनन्वयात् । यदाह-

"रूपं यद्यन्वयो हेतोर्व्यतिरेकवदिष्यते ।
स सपक्षोभयो न स्यादसपक्षोभयो यथा ॥"

सपक्ष एव सत्त्वमन्वयो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं स्यात् । वयमपि हि प्रत्यपीपदाम अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरिति ।

४८--तथा, एकस्मिन्नर्थे दृष्टेऽदृष्टे वा समवाय्याश्रितं साधनं साध्येन । तच्चैकार्थसमवायित्वम् एकफलादिगतयो रूपरसयोः, शकटोदय-कृत्तिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धयोः, वृष्टि-साण्डपिपीलिकाक्षोभयोः ,नागवल्लीदाह-पत्रकोथयोः । तत्र एकार्थसमवायी' रसो रूपस्य, रूपं वा रसस्य; नहि समानकालभाविनोः कार्यकारणभावः सम्भवति ।

यदि यह निश्चय हो जाय कि वह साध्य के अभाव में नहीं होता तो वह साध्य का साधक होगा ही,उसे अनैकान्तिक नहीं कहा जा सकता । हेतुत्व के लिये यही एक प्रकार है कि वह साध्य के अभाव में न हो । दूसरी बात यह है कि यदि अन्वय को हेतु का स्वरूप माना जाय तो जैसे विपक्ष के एक देश में रहने से भी किसी अंश में विपक्षासत्त्व न होने से हेतु अगमक हो जाता है,उसी प्रकार सपक्ष के एक देश में रहने वाला भी हेतु अगमक हो जाना चाहिए, क्योंकि उसमें भी किसी अंश में अन्वय (सपक्षसत्त्व) नहीं पाया जाता है । कहा भी है-

'यदि व्यतिरेक (विपक्षासत्त्व) के समान अन्वय (सपक्षसत्त्व) को भी हेतु का स्वरूप स्वीकार किया जाय तो जो हेतु सपक्ष के एक देश में रहता है और एक देश में नहीं रहता,वह हेतु नहीं होना चाहिए; जैसे कि विपक्ष के एक देश में रहने वाला और एक देश में न रहने वाला हेतु नहीं होता है ।' शंका-'सपक्ष में ही रहना' अन्वय कहलाता है,सपक्ष में रहना ही घटित ऐसा अन्वय का स्वरूप नहीं है । अर्थात् हेतु यदि सपक्ष में रहे भी और न भी रहे तो भी अन्वय घटित हो जाता हैं, केवल विपक्ष में नहीं रहना चाहिए । समाधान-तब तो यह व्यतिरेक ही कहलाया और इस प्रकार से आपने हमारे मत को ही स्वीकार कर लिया । आखिर हम भी यही कहते हैं कि हेतु का एक मात्र लक्षण अन्यथानुपपत्ति ही है ।

४८-(४) एकार्थसमवायि-दृष्ट या अदृष्ट एक ही पदार्थ में समवाय से जो साधन साध्य के साथ रहा हुआ हो, वह एकार्थसमवायि कहलाता है । वह एकार्थसमवायि एक ही फल में रहे हुए रूप और रस में, शकटोदय और कृत्तिकोदय में, चन्द्रोदय और समुद्रवृद्धि में, वृष्टि और अण्डोंसहित पिपीलिकाओं के क्षोभ में तथा नागवल्लीदाह और पत्रकोथ में समझना चाहिए । यहाँ रस रूप का और रूप रस का एकार्थसमवायी है । क्योंकि ये समकालभावी वस्तुओं में कार्यकारणभाव नहीं होता ।

४९-ननु समानकालकार्यजनकं कारणमनुमास्यते इति चेत्; न तर्हि कार्यमनुमितं स्यात्। कारणानुमाने सामर्थ्यात् कार्यमनुमितमेव, जन्याभावे जनकत्वाभावादिति चेत्; हन्तैवं कारणं कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापद्येत। शकटोदयकृत्तिकोदयादीनां तु यथाऽविनाभावं साध्यसाधनभावः। यदाह–

"एकार्थसमवायस्तु यथा येषां तथैव ते।
गमका गमकस्तत्र शकटः कृत्तिकोदितेः।"

एवमन्येष्वपि साधनेषु वाच्यम्। ननु कृतकत्वानित्यत्वयोरेकार्थसमवायः कस्मान्नेष्यते?; न, तयोरेकत्वात्। यदाह–

"आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता।
एकैव हेतुः साध्यं च द्वयं नैकाश्रयं ततः॥" इति।

५०. स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्वं तु विरोधिनः। स हि स्वसन्निधानेनेतरस्य प्रतिषेधं साधयति, अन्यथा विरोधासिद्धेः।

५१–'च'शब्दो यत एते स्वभावकारणकार्यव्यापका अन्यथानुपपन्नाः स्वसाध्य-

---

४९–शंका–यदि समकालीन कार्यजनक कारण का अनुमान कर लिया जाय तो क्या हानि है? समाधान–तो यह कार्य का अनुमान नहीं कहलाया।

शंका--कारण का अनुमान कर लेने पर सामर्थ्य से कार्य का भी अनुमान हो ही जाएगा' क्योंकि जन्य के अभाव में जनक (कारण) होता ही नहीं है। समाधान--तब तो कारण, कार्य का अनुमापक हो जाएगा। यह आप को इष्ट नहीं है। शकटोदय और कृत्तिकोदय आदि का अविनाभाव के अनुसार साध्यसाधनभाव होता है। कहा भी है--

'जिन वस्तुओं में जिस प्रकार का एकार्थसमवायसंबंध होता है, वे उसी प्रकार से गमक होती हैं। अतएव शकटोदय कृत्तिकोदय का गमक नहीं होता (किन्तु कृत्तिकोदय ही भाविशकटोदय का गमक होता है।) यही बात अन्य एकार्थसमवायिसाधनों के विषय में समझना चाहिए।

शंका-कृतकत्व और अनित्यत्व में एकार्थसमवायसंबंध क्यों स्वीकार नहीं किया जाता? समाधान--वे दोनों एक ही हैं, अतएव दोनों में एकार्थसमवाय नहीं है कहा भी है-

'आदि और अन्त की अपेक्षा रखने वाली सत्ता कृतकत्व है और वही अनित्यता है। वही हेतु और वही साध्य है, अतएव वे दोनों एकार्थसमवायि नहीं हैं।

५०--ये स्वभाव आदि चार हेतु विधि के साधक होते हैं, किन्तु विरोधी हेतु निषेध का साधक होता है। वह अपनी विद्यमानता में दूसरे का निषेध सिद्ध करता है, अन्यथा विरोध ही सिद्ध नहीं हो सकता।

(५१)-सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है, वह बतलाता है कि-ये स्वभाव कारण, कार्य और व्यापक एकार्थसमवायी-अन्यथानुपपन्न हो कर अपने साध्य के गमक-ज्ञापक होते

मुपस्थापयन्ति तत एव तदभावे स्वयं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरप्यभावसाधनीत्याह । तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, द्रष्टुं योग्यस्यानुपलब्धेः । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् । कार्यानुपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा वृक्षाभावात् ।

५२. विरोधि तु प्रतिषेध्यस्य तत्कार्यकारणव्यापकानां च विरुद्धं विरुद्धकार्यं च । यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविशेषाः, न तुषारस्पर्शः, अग्नेर्धूमाद्वेति प्रयोगनानात्वमिति ॥१२॥

५३– साधनं लक्षयित्वा विभज्य च साध्यस्य लक्षणमाह–

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः १३॥

५४-साधयितुमिष्टं'सिषाधयिषितम्' । अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यवच्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति शास्त्रोक्तत्वाद्वैशेषिकेणाभ्युपगतस्याप्याकाशगुणत्वादेर्न साध्यत्वम् तदा साधयितुमनिष्टत्वात् । इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो भवति,यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्र परार्था इत्यात्मार्थाः ।

हैं वह उसके अभाव में नहीं होता है,अतएव उनकी अनुपलब्धि भी अभाव को सिद्ध करती है,जैसे स्वभावानुपलब्धि-यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अग्नि का अभाव है । कार्यानुपलब्धि-यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं हैं,क्योंकि धूम नहीं है। व्यापकानुपलब्धि–यहाँ शिंशपा नहीं है क्योंकि वृक्ष का अभाव है

५२–विरोधी हेतु प्रतिषेध्य(निषेध रूप साध्य)या प्रतिषेध्य के कार्य, कारण और व्यापक से विरुद्ध होता है अथवा विरुद्ध का कार्य होता है । यथा-(क)यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है(ख) यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं हैं, क्योंकि अग्नि है (ग) यहाँ रोमहर्षविशेष नहीं है क्योंकि अग्नि है (घ) यहाँ तुषारस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है । (यह क्रमशः विरुद्ध, विरुद्ध कार्य विरुद्ध कारण और विरुद्ध व्यापक के उदाहरण हैं ।) यहाँ प्रतिषेध्य से विरुद्ध अग्नि का कार्यरूप हेतु'धूम'समझना चाहिए। जैसे-यहाँ शीतस्पर्श नहीं है,क्योंकि धूम है, इत्यादि ।(शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि है और अग्नि का कार्य धूम है,अतः धूम प्रतिषेध्य शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि का कार्य हुआ ।) इस प्रकार नाना तरह से हेतुओं का प्रयोग होता है ॥१२॥

५३–साध्य का लक्षण–सूत्रार्थ--वादी जिसे सिद्ध करना चाहता हो,जो प्रतिवादी को सिद्ध न हो और प्रमाण से बाधित न हो, वह साध्य कहलाता है । साध्य को पक्ष भी कहते हैं ॥१३॥

५४--जिसे सिद्ध करना इष्ट हो वह 'सिसाधयिषित' कहलाता है । इस विशेषण से यह फलित हुआ कि जिसे वादी सिद्ध न करना चाहे वह साध्य नहीं होता है । वैशेषिक के मत के शास्त्र में 'शब्द नित्य है' ऐसा कहा गया है । उन्होंने उसे आकाश का गुण भी माना है,फिर भी जब इसे वे सिद्ध नहीं करना चाहते तब वह साध्य नहीं होता । इसके विपरीत जो सिद्ध करने के लिए इष्ट है, वह शब्द से न कहने पर भी साध्य होता है । जैसे-चक्षु आदि परार्थ हैं, क्योंकि वे संघात हैं, शयन एवं अशन आदि के अंगों के समान । यहाँ'परार्थ' का अभिप्राय है-आत्मार्थ ।

बुद्धिमत्कारणपूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राऽशरीरसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति ।

५५–'असिद्धम्'इत्यनेनानध्यवसाय–संशय-विपर्ययविषयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, न सिद्धस्य यथा श्रावणः शब्द इति ।"नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते"(न्यायभा० १.१.१.) इति हि सर्वपार्षदम् ।

५६—'अबाध्यम्' इत्यनेन प्रत्यक्षादिबाधितस्य साध्यत्वं मा भूदित्याह । एतत् साध्यस्य लक्षणम् ।'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् ।।१३।।

५७–अबाध्यग्रहणव्यवच्छेद्यां बाधां दर्शयति–

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधा ।।१४।।

५८–प्रत्यक्षादीनि तद्विरुद्धार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् 'बाधाः' । तत्र प्रत्यक्ष–बाधा यथा अनुष्णोऽग्निः, न मधु मधुरम् ,न सुगन्धि विदलन्मालतीमुकुलम्, अचाक्षुषो घटः, अश्रावणः शब्दः,नास्ति बहिरर्थ इत्यादि । अनुमानबाधा यथा सरोम हस्ततलम् ,नित्यः शब्द इति वा । अत्रानुपलम्भेन कृतकत्वेन चानुमानबाधा । आगमबाधा यथा प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति । परलोके सुखप्रदत्वं धर्मस्य सर्वागमसिद्धम् । लोक–

अर्थात् आत्मा के लिए । तथा--पृथ्वी आदि बुद्धिमत्कर्तृक हैं, क्योंकि कार्य हैं,यहाँ'बुद्धिमत्कर्तृत्व' साध्यशब्द से कहा गया है, फिर भी 'अशरीरसर्वज्ञकर्तृत्व' साध्य माना जाता है ।

५५--'असिद्ध'इस विशेषण से यह सूचित किया गया है कि जिस विषय में प्रतिवादी को अनध्यवसाय, संशय या विपर्यय हो, वही साध्य होता है । जो प्रतिवादी को सिद्ध है वह साध्य नहीं होता । जैसे 'शब्द श्रावण है, यहाँ शब्द का श्रावणत्व निर्विवाद सिद्ध है अतः साध्य नहीं हो सकता । यह सर्वसम्मत है कि सर्वथा अनुपलब्ध अज्ञात और सर्वथानिर्णीत वस्तु में हेतु की प्रवृत्ति नहीं होती ।

५६–'अबाध्य' इस विशेषण से प्रकट किया गया है कि जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित है, वह साध्य नहीं होता । 'पक्ष' साध्य का ही पर्यायवाचक शब्द है ।।१३।।

५७-अबाध्य'विशेषण से व्यवच्छेद बाधाएँ–सूत्रार्थ–प्रत्यक्षबाधा,अनुमानबाधा,आगमबाधा, लोकबाधा. स्ववचनबाधा और प्रतीति बाधा–यह सब साध्यसंबंधी बाधाएँ हैं । ।।१४।।

५८–प्रत्यक्ष आदि साध्य से विपरीत अर्थ उपस्थापक होकर बाधक होने के कारण बाधा कहलाते हैं । अर्थात् जब प्रत्यक्ष साध्य से विपरीत अर्थ का साधक होता है तब वह प्रत्यक्ष बाधा है । इसी प्रकार अनुमानबाधा आदि समझना चाहिए । प्रत्यक्षबाधा, जैसे-अग्नि उष्ण नहीं है, मधु मधुर नहीं है, मालती-मुकुल सुगंधयुक्त नहीं है,घट अचाक्षुष है, शब्द श्रावण नहीं है, (ज्ञान से) भिन्न पदार्थ नहीं [१]है, इत्यादि । अनुमानबाधा, जैसे-हथेली सरोम है, शब्द नित्य है । यहाँ 'सरोम' यह साध्य अनुपलंभ से बाधित है और 'नित्यत्व' साध्य 'कृतकत्व' हेतु से बाधित है । आगमबाधा,, जैसे-'धर्म परलोक में दुःखदायी है , 'यहाँ' साध्य आगम से बाधित है, क्योंकि सभी आगम धर्म को परलोक में सुखदायी कहते हैं । लोकबाधा, जैसे-'मनुष्य के

१–ये क्रमशः स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्षबाधा, रसनेन्द्रियप्रत्यक्षबाधा आदि के उदाहरण हैं ।

बाधा यथा शुचि नरशिरःकपालमिति । लोके हि नरशिरःकपालादीनामशुचित्वं सुप्रसिद्धम् । स्ववचनबाधा यथा माता मे वन्ध्येति । प्रतीतिबाधा यथा अचन्द्रः शशीति अत्र शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिबाधा ॥१४॥

५९-अत्र साध्यं र्मः, धर्मधर्मिसमुदायो वेति संशयव्यवच्छेदायाह-

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

६०-साध्यम्' साध्यशब्दवाच्यं पक्षशब्दाभिधेयमित्यर्थः । किमित्याह 'साध्यधर्मेण' अनित्यत्वादिना 'विशिष्टो धर्मी' शब्दादिः । एतत् प्रयोगकालापेक्षं साध्यशब्दवाच्यत्वम् । 'क्वचित्तु' व्याप्तिग्रहणकाले' धर्मः' साध्यशब्देनोच्यते,अन्यथा व्याप्तेरघटनात् । नहि धूमदर्शनात् सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुं प्रमाणविरोधादिति ॥१५॥

६१-धर्मिस्वरूपनिरूपणायाह—

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

६१-'प्रमाणैः' प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो 'धर्मी' भवति यथाग्निमानयं देश इति ।

सिर की खोपडी पवित्र है ।' लोक में नरमुण्ड की अपवित्रता सुप्रसिद्ध है, अतएव यह साध्य लोकबाधित है। स्ववचनबाधा, यथा-'मेरी माता वन्ध्या है' यहाँ 'मेरी माता' यह कथन ही 'वन्ध्या' साध्य में बाधक है । प्रतीतिबाधा, यथा-'चन्द्रमा शशी नहीं है' अर्थात् शशी शब्द का वाच्य नहीं है । चन्द्रमा का शशी शब्द द्वारा वाच्य होना प्रसिद्ध है, अतएव इस 'शशी नहीं है' साध्य में प्रतीति से बाधा है ॥१४॥

५९-धर्म (अग्निमत्त्व) साध्य होता है अथवा धर्म और धर्मी का समुदाय (अग्निमत्त्व धर्म से युक्त पर्वत) साध्य होता है ? इस संशय को दूर करने के लिए कहते हैं-

सूत्रार्थ-साध्य धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है; किन्तु कहीं धर्म भी साध्य होता है ॥१५॥

६०-साध्य या 'पक्ष शब्द का वाच्य क्या है? इसका उत्तर यह है कि अनित्यत्व आदि धर्म से विशिष्ट 'शब्द, आदि धर्मी साध्य या पक्ष कहलाते हैं, अर्थात् 'शब्द अनित्य है' यहाँ अनित्यता धर्म वाला शब्द पक्ष या साध्य है, किन्तु यह विधान अनुमान करते समय के लिए है-जब अनुमान प्रयोग किया जाता है तभी धर्मी साध्य होता है, कहीं पर अर्थात् व्याप्ति को ग्रहण करते समय तो नियम से धर्म ही साध्य होता है उस समय धर्म को ही साध्य न बना कर यदि धर्मी को साध्य बना लिया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती । जहाँ धूमवत्त्व है वहाँ अग्निमत्त्व है, ऐसी व्याप्ति बनती है, मगर जहाँ धूम होता है वहाँ पर्वत में अग्नि होती है ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती, ऐसी व्याप्ति प्रमाण से बाधित है ॥१५॥

६१-धर्मी का स्वरूप-सूत्रार्थ-धर्मी प्रमाण से सिद्ध होता है ॥१६॥

६२-धर्मी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होता है । जैसे यह स्थान अग्निमान् है । यहाँ धर्मी सिद्ध है ।

अत्र हि देशः प्रत्यक्षेण सिद्धः । एतेन–"सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते" इतिसौगतं मतं प्रतिक्षिपति । नहीयं विकल्पबुद्धिरन्तर्बहिर्वाऽनासादितालम्बना धर्मिणं व्यवस्थापति, तदवास्तवत्वे तदाधारसाधनयोरपि वास्तवत्वानुपपत्तेः तद्बुद्धेः पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्थापकत्वायोगात् । ततो विकल्पेनान्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिविषयभावं भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यते । तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तैव ।।१६।।

६३–अपवादमाह–

बुद्धिसिद्धोऽपि ।।१७।।

६४–नैकान्तेन प्रमाणसिद्ध एव धर्मी, किंतु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मी भवति । 'अपि' शब्देन प्रमाण-बुद्धिभ्यामुभाभ्यामपि सिद्धो धर्मी भवतीति दर्शयति । तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते, यथा अस्ति सर्वज्ञः, नास्ति षष्ठं भूतमिति ।

धर्मी को प्रमाण से सिद्ध कहने से बौद्धों का यह मत खंडित किया गया है कि–सभी साध्य और साधनसंबंधी व्यवहार बुद्धिकल्पित धर्म-धर्मीन्याय से ही होता है अर्थात् कल्पित है । कल्पना से बाहर उसकी कोई सत्ता-असत्ता नहीं है । विकल्पबुद्धि बाह्य और आन्तरिक आलम्बन के विना धर्मी की व्यवस्था नहीं करती । यदि साध्य और साधन का आधारभूत धर्मी ही वास्तविक न हो तो उसमें रहने वाले साध्य और साधन भी वास्तविक नहीं हो सकते । ऐसी स्थिति में विकल्पज्ञान परम्परा से भी वस्तु का व्यवस्थापक नहीं हो सकता । अतएव यही स्वीकार करना उचित है कि सविकल्पक या निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा व्यवस्थापित पर्वत आदि सविकल्पक ज्ञान के विषय होकर ही धर्मी होते हैं, अतएव प्रमाणसिद्ध वस्तु को धर्मी कहना योग्य ही है ।।१६।।

६३--धर्मीविषयक अपवाद—सूत्रार्थ--धर्मी बुद्धिसिद्ध भी होता है ।।१७।।

६४--धर्मी एकान्ततः प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होता, किन्तु विकल्प बुद्धि से भी सिद्ध होता है । सूत्र में प्रयुक्त 'अपि (भी)' शब्द से यह ध्वनित किया गया है कि कोई-कोई धर्मी प्रमाण और बुद्धि दोनों से भी सिद्ध होता है । इन तीन प्रकार के धर्मियों में से बुद्धिसिद्ध धर्मी में सिर्फ सत्ता या असत्ता ही प्रमाण के द्वारा साध्य हो सकती है, इनके अतिरिक्त अन्य कोई विशेष धर्म सिद्ध नहीं किया जा सकता । जैसे सर्वज्ञ है, षष्ठ भूत नहीं है । तात्पर्य यह है कि बुद्धिसिद्ध धर्मी सत्ता या असत्ता को सिद्ध करने के लिए मान लिया जाता है, क्योंकि किसी पदार्थ की सत्ता या असत्ता उसे पक्ष बनाये विना सिद्ध नहीं हो सकती 'सर्वज्ञ है यह' सिद्ध करने के लिए भी और 'सर्वज्ञ नहीं है' यह सिद्ध करने के लिये भी सर्वज्ञ को पक्ष बनाये विना काम नहीं चल सकता अतएव बुद्धिसिद्ध धर्मी तो आवश्यक है, किन्तु उसमें सत्ता अथवा असत्ता ही सिद्ध की जा सकती है ।

६५–ननु धर्मिणि साक्षादसति भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयोः साध्यत्वम्?। तदाह–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्याभिचार्युभयाश्रयः।

विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्?।।" (प्रमाणवा० १.१९२-३.) इति ।

६६–नैवम, मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात् । न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्,तदभ्युपेतमपि वैयात्याद्यो न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साफल्यात् । न च मानसज्ञानात् खरविषाणादेरपि सद्भावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः, तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययविप्लावितसत्ताकवस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात् । कथं तर्हि षष्ठभूतादेर्धर्मित्वमिति चेत्; धर्मिप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोऽपपत्तेः । न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वसंशीतिः,सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणसत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र संशयायोगात् ।

६५–प्रश्न -धर्मी की साक्षात् सत्ता नहीं है तो उसमें हेतुओं के भावधर्म, अभावधर्म और उभयधर्म क्रमशः असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक हो जायेंगे अतएव वह अनुभव का विषय ही नहीं रहेगा तो सत्ता या असत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? कहा भी है–

प्रमाण से असिद्ध धर्मी में हेतु यदि भावरूपधर्म होगा तो वह असिद्ध हो जाएगा, अभावधर्म रूप होगा तो विरुद्ध हो जाएगा और यदि उभयधर्मरूप होगा तो व्यभिचारी हो जायगा । ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है ?'

६६–समाधान- मानस प्रत्यक्ष में भावरूप धर्मी ही प्रतिभासित होता है, कदाचित् कहा जाय कि यदि भावरूप धर्मी का प्रतिभास मान लिया जाय तो उसकी सत्ता भी सिद्ध हो जायगी, फिर उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग करना व्यर्थ हो जाएगा, किन्तु ऐसा कहना योग्य नहीं, क्योंकि स्वीकार किये हुए सत्त्व को भी जो हठ करके नहीं मानता उसके लिए अनुमान व्यर्थ नहीं होता ।

शंका–मानस ज्ञान से खरविषाण आदि के अस्तित्व की भी संभावना की जा सकेगी तो अतिप्रसंग (अनिष्टापत्ति) होगा । समाधान-खरविषाण का ज्ञान ऐसी वस्तु को विषय करता है जिसकी सत्ता बाधक प्रमाण से खंडित है, अतएव वह मानस प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्षाभास है ।

शंका–ऐसा है तो षष्ठभूत मानसप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षाभास है । अतः उसे धर्मी कैसे बनाया जा सकता है ? समाधान-पक्षप्रयोग के समय बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता,अतएव उसमें सत्त्व की संभावना हो सकती है । साधक प्रमाण न होने के कारण सर्वज्ञ आदि के अस्तित्व में सन्देह होता है, यह कहना संगत नहीं, क्योंकि जैसे सुख दुःख–आदि के अस्तित्व में बाधक प्रमाण का अभाव सुनिश्चित होने से उनकी सत्ता है उसमें संशय नहीं होता, इसी प्रकार सर्वज्ञादि के विषय में भी सन्देह नहीं हो सकता ।

६७-उभयसिद्धो धर्मी यथा अनित्यः शब्द इति । नहि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वशब्दाः शक्या निश्चेतुमिति शब्दस्य प्रमाणबुद्ध्युभयसिद्धता, तेनानित्यत्वादिर्धर्मः प्रसाध्यत इति ॥१७॥

६८-ननु दृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गतया प्रतीतः । तत् कथं साध्यसाधने एवानुमानाङ्गमुक्ते न दृष्टान्तः?; इत्याह-

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥

६९-'दृष्टान्तः, वक्ष्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्, कारणम् ॥१८॥

७०-कुत इत्याह-

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥१९॥

७१-दृष्टान्तरहितात्साध्यान्यथानुपपत्तिलक्षणात् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्यप्रतिपत्तिलक्षणस्य भावान्न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति ।

७२-स हि साध्यप्रतिपत्तौ वा अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे वोपयुज्येत?। न तावत् प्रथमः पक्षः, यथोक्तादेव हेतोः साध्यप्रतिपत्तेरुपपत्तेः । नापि द्वितीयः, विपक्षे बाधकादेवाविनाभावग्रहणात्। किंच, व्यक्तिरूपो दृष्टान्तः । स कथं साकल्येन

६७- शब्द नित्य है' यहाँ शब्द'उभयसिद्ध धर्मी है। अल्पज्ञ जन अनियत दिशाओं, देशों और कालों के समस्त शब्दों का प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं कर सकते (केवल वर्तमान और इन्द्रिय सम्बद्ध शब्दों का ही उन्हें प्रत्यक्ष होता है) अतएव वह बुद्धिसिद्ध भी है और प्रमाणसिद्ध भी है। उभयसिद्ध धर्मी में अनित्यत्व आदि धर्म सिद्ध किये जाते हैं ।

६८-शंका-दृष्टान्त भी अनुमान का अंग है, यह बात प्रसिद्ध हैं । फिर आपने साध्य और साधन को ही अनुमान का अंग क्यों कहा है? दृष्टान्त को क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर कहते हैं-,

सूत्रार्थ-दृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं है ॥१८॥

६९-दृष्टान्त जिसका स्वरूप आगे कहा जाएगा,अनुमान का अंग अर्थात् कारण नहीं है ।१८।

७०-क्यों नहीं है ?-सूत्रार्थ-अकेले साधन से ही अनुमान की सिद्धि हो जाती है ॥१९॥

७१-क्योंकि दृष्टान्त से रहित, साध्य के साथ अन्यथानुपपन्न साधन से ही अनुमान (साध्य के ज्ञान)की सिद्धि हो जाती है । अतएव दृष्टान्त को उसका अंग मानने की आवश्यकता नहीं है ।

७२-दृष्टान्त की उपयोगिता क्या है? वह साध्य की प्रतिपत्ति में उपयोगी होता है या अविनाभाव का निश्चय करने में अथवा व्याप्ति के स्मरण में ? साध्य की प्रतिपत्ति के लिए तो उसकी आवश्यकता है नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त-लक्षणवाले-हेतु से ही साध्य का ज्ञान हो जाता है ।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय होता है । इसके अतिरिक्त दृष्टान्त व्यक्तिरूप होता है,वह परिपूर्ण रूप से व्याप्ति का निदर्शक कैसे हो सकता है? आशय यह है-'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईगृह ।' यहाँ रसोईगृह दृष्टान्त है । वह व्यक्तिरूप है अर्थात् अपने आप तक ही सीमित है ।

व्याप्तिं गमयेत्?। व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं दृष्टान्तान्तरं मृग्यम्। तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन साकल्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वात्परापरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात्। नापि तृतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य साधनदर्शनादेव व्याप्तिस्मृतेः। अगृहीतसम्बन्धस्य दृष्टान्तेऽप्यस्मरणात् उपलब्धिपूर्वकत्वात् स्मरणस्येति ॥१९॥

७३-दृष्टान्तस्य लक्षणमाह-

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

७४–'स, इति दृष्टान्तो लक्ष्यं 'व्याप्तिः' लक्षितरूपा, 'दर्शनम् परस्मै प्रतिपादनं तस्य 'भूमिः, आश्रय इति लक्षणम्।

७५–ननु यदि दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गं न भवति तर्हि किमर्थं लक्ष्यते? उच्यते–परार्थानुमाने बोध्यानुरोधादापवादिकस्योदाहरणस्यानुज्ञास्यमानत्वात् | तस्य च दृष्टान्ताभिधानरूपत्वादुपपन्नं दृष्टान्तस्य लक्षणम्। प्रमातुरपि कस्यचित् दृष्टान्तदृष्टबहिर्व्याप्तिबलेनान्तर्व्याप्तिप्रतिपत्तिर्भवतीति स्वार्थानुमानपर्वण्यपि दृष्टान्तलक्षणं नानुपपन्नम् ॥२०॥

उसमें धूम और अग्नि है, यह ठीक है किन्तु इससे यह तो निर्णय नहीं हो सकता कि तीन काल और तीन लोक में जहाँ कहीं धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है! जब व्यक्तिरूप दृष्टान्त से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता तो दूसरी व्यक्तियों में उसका ग्रहण करने के लिए अन्य दृष्टान्त खोजना पड़ेगा। मगर अन्य दृष्टान्त भी व्यक्तिरूप ही होगा और वह भी परिपूर्ण रूप से व्याप्ति का निश्चायक नहीं हो सकेगा, अतएव अन्यान्य दृष्टान्तों की अपेक्षा बनी ही रहेगी। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष अनिवार्य है। दृष्टान्त अविनाभाव के स्मरण में उपयोगी होता है, यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने अविनाभाव संबंध को समझ रक्खा है, उसे साधन को देखने से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है। इसके विपरीत जिसने अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया है, उसे दृष्टान्त का प्रयोग करने पर भी अविनाभाव का स्मरण नहीं हो सकता। क्योंकि स्मरण तभी हो सकता है जब पहले ग्रहण हो चुका हो ॥१९॥

७३–दृष्टान्त का लक्षण–सूत्रार्थ- दृष्टान्त व्याप्ति को दिखलाने का स्थान होता है। २०॥

दृष्टान्त वह स्थान है जहाँ दूसरे को व्याप्ति दिखलाई जाती है।

७५--प्रश्न-- यदि दृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं है तो उसके लक्षण का निरूपण क्यों करते हैं? उत्तर -परार्थानुमान में शिष्य के अनुरोध से उदाहरण को अपवाद रूप में स्वीकार किया है और दृष्टान्त का कथन ही उदाहरण कहलाता है, इस दृष्टान्त का लक्षण कहना उचित ही है। इसके अतिरिक्त किसी किसी प्रमाता को भी देखी हुई बहिर्व्याप्ति की सहायता से अन्तर्व्याप्ति का बोध होता है, इस कारण स्वार्थानुमान के प्रसंग में भी दृष्टान्त का लक्षण-कथन अनुचित नहीं है ॥२०॥

७६-तद्विभागमाह-

स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

७७-स दृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयेन 'वैधर्म्येण' च व्यतिरेकेण भवतीति द्विप्रकारः ॥२१॥

७८-साधर्म्यदृष्टान्तं विभजते-

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

७९-साधनधर्मेण प्रयुक्तो न तु काकतालीयो यः साध्यधर्मस्तद्वान् 'साधर्म्य'-दृष्टान्तः' यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये घटादिः ॥२२॥

८०-वैधर्म्यदृष्टान्तं व्याचष्टे-

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥

८१-साध्यधर्मनिवृत्त्या प्रयुक्ता न यथाकथञ्चित् या साधनधर्मनिवृत्तिः तद्वान् 'वैधर्म्यदृष्टान्तः'। यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये आकाशादिरिति ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

७६-दृष्टान्त के भेद-सूत्रार्थ-साधर्म्य और वैधर्म्य के रूप में दृष्टान्त दो प्रकार का है ॥२१।

७७-साधर्म्य अर्थात् अन्वय दृष्टान्त और वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेकदृष्टान्त ॥२१॥

७८-साधर्म्यदृष्टान्त के भेद-सूत्रार्थ-साधनधर्म की बदौलत जो साध्यधर्म वाला हो अर्थात् जहाँ साधन होने से साध्य पाया जाय वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

७९-'साधनधर्म की बदौलत' यह शब्द विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कहीं काकतालीय न्याय से साध्यधर्म पाया जाय तो वह साधर्म्यदृष्टान्त नहीं कहा जाएगा, वरन् साधन के होने से जहाँ साध्य हो वही साधर्म्यदृष्टान्त कहलाएगा। जैसे-शब्द अनित्य है। क्योंकि वह कृतक है जैसे घट आदि।' (यहाँ घट आदि साधर्म्यदृष्टान्त हैं सो इसी कारण कि कृतक होने से उनमें अनित्यता है)॥२२॥

८०-वैधर्म्यदृष्टान्त की व्याख्या-सूत्रार्थ—साध्यधर्म के अभाव के कारण जहाँ साधनधर्म का अभाव हो वह वैधर्म्यदृष्टान्त कहलाता है ॥२३॥

८१-यहाँ भी पूर्ववत् ही समझना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि जहाँ साध्य के अभाव के कारण साधन का अभाव हो वह वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो अनित्य नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता, जैसे आकाश (यहाँ आकाश में अनित्यता के अभाव के कारण कृतकता का भी अभाव है अतएव आकाश वैधर्म्य दृष्टान्त है)॥२३॥

इस प्रकार आचार्य श्री हेमचंद्रद्वारा विरचित प्रमाणमीमांसा और उसकी वृत्तिके
प्रथम अध्याय का द्वितीय आह्निक पूर्ण हुवा।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

१–लक्षितं स्वार्थमनुमानमिदानीं क्रमप्राप्तं परार्थमनुमानं लक्षयति–

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥१॥

२–'यथोक्तम्' स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणं यत् 'साधनम्' तस्याभिधानम्। अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति 'अभिधानम्' वचनम्, तस्माज्जातः सम्यगर्थनिर्णयः 'परार्थम्' अनुमानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

३–ननु वचनं परार्थमनुमानमित्याहुस्तत्कथमित्याह–

वचनमुपचारात् ॥२॥

१–स्वार्थानुमान के लक्षण का निरूपण किया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त परार्थानुमान का लक्षण कहते हैं–

सूत्रार्थ–पूर्वोक्त साधन के बोलने से उत्पन्न होने वाला (सम्यगर्थनिर्णय) परार्थानुमान कहलाता है ॥१॥

२-पहले कहा जा चुका है कि जिसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव हो वह साधन है, उस साधन को वचन द्वारा कहने से दूसरे को सम्यगर्थ का निर्णय होता है, वह परार्थानुमान है। अभिप्राय यह है कि परोपदेश से (दूसरे के कथन से) उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है।

३–शंका–आपने परोपदेश से होने वाले साध्यज्ञान को अनुमान कहा है, किन्तु परोपदेश अर्थात् वचनों को भी अनुमान कहा जाता है, सो कैसे ? इसका समाधान करते हैं–

सूत्रार्थ--वचन उपचार से परार्थानुमान है ॥२॥

४–अचेतनं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिफलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणभावभाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपात्रतां प्रतिपद्यते। उपचारश्चात्र कारणे कार्यस्य। यथोक्तसाधनात् तद्विषया स्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमानम्, तस्मादनुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं कारणम्, तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। कार्ये वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः। वचनमौपचारिकमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः।

५–इह च मुख्यार्थबाधे प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। तत्र मुख्योऽर्थः साक्षात्प्रमितिफलः सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणशब्दसमानाधिकरणस्य परार्थानुमानशब्दस्य, तस्य बाधा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्तेः। प्रयोजनम् अनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, निर्णयात्मन्यनंशे तद्व्यवहारानुपपत्तेः। निमित्तं तु निर्णयात्मकानुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥२॥

४-वचन पौद्गलिक होने से अचेतन है। वह प्रमिति का साक्षात् कारण नहीं हो सकता और इस कारण मुख्य रूप से प्रमाण भी नहीं हो सकता, किन्तु मुख्य अनुमान (स्वार्थानुमान) का कारण होने से उसमें उपचरित अनुमान की पात्रता है। तात्पर्य यह है कि किसी को साधन से साध्य का जो ज्ञान हुआ, वह स्वार्थानुमान या मुख्यानुमान कहलाया; तत्पश्चात् उसने किसी दूसरे को बोध कराने के लिए उसे वचनों द्वारा प्रकट किया। वचनों के प्रयोग से दूसरे को अनुमिति उत्पन्न हुई। वही परार्थानुमान है किन्तु उपचार से वह वचन भी परार्थानुमान है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार--आरोप है। अतएव परार्थानुमान का कारण वचन अनुमानशब्द से कहा गया है। अथवा कार्य में कारण का उपचार है क्योंकि प्रतिपादक के स्वार्थानुमान से उत्पन्न हुए वचनरूप कार्य में कारण का–अनुमान का आरोप किया गया है। तात्पर्य इतना ही है कि वचन उपचार से ही अनुमान कहलाता है। वह मुख्य अनुमान नहीं है।

५–जब मुख्य अर्थ में बाधा आती हो, किन्तु कोई प्रयोजन तथा निमित्त हो तब उपचार किया जाता है। परार्थानुमान का मुख्य अर्थ है–प्रमिति को साक्षात् रूप से उत्पन्न करने वाला सम्यगर्थनिर्णय। यह अर्थ मानने से ही 'प्रमाण' शब्द के साथ उसकी समानाधिकरणता हो सकती है। किन्तु वचन जड होने से निर्णय (निश्चयात्मक ज्ञान) नहीं हो सकता। यह मुख्य अर्थ में बाधा हुई। किन्तु प्रयोजन यह है कि शास्त्र में प्रतिज्ञा हेतु आदि अनुमान के अवयव कहे गये हैं। अगर वचनात्मक परार्थनुमान न माना जाय तो प्रतिज्ञा आदि को अनुमान का अवयव नहीं कहा जा सकता। रह गया निमित्त, सो वह यह हैं कि वचन निर्णयात्मक अनुमान का कारण होता है, इस प्रकार मुख्य अर्थ में बाधा प्रयोजन और निमित्त होने से वचन में अनुमान का उपचार होता है ॥२॥

तद् द्वेधा ॥३॥

६–'तद्' वचनात्मकं परार्थानुमानं 'द्वेधा' द्विप्रकारम् ॥३॥

७-प्रकारभेदमाह–

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥

८–'तथा' साध्ये सत्येव 'उपपत्तिः' साधनस्येत्येकः प्रकारः, 'अन्यथा' साध्याभावे 'अनुपपत्तिः' चेति द्वितीयः प्रकारः। यथा अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा धूमवत्त्वानुपपत्तेर्वा। एतावन्मात्रकृतः परार्थानुमानस्य भेदो न पारमार्थिकः स इति भेदपदेन दर्शयति ॥४॥

९–एतदेवाह–

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥५॥

१०–'न' 'अनयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः 'तात्पर्ये' 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्येवंलक्षणे तत्परत्वे, 'भेदः' विशेषः। एतदुक्तं भवति अन्यदभिधेयं शब्दस्यान्यत्प्रकाश्यं प्रयोजनम्। तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते, प्रकाश्यं त्वभिन्नम्, अन्वये कथिते व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिरित्युभयत्रापि

सूत्रार्थ--वह दो प्रकार का है ॥३॥

६–वचनात्मक परार्थानुमान दो प्रकार का है ॥३॥

७– वे प्रकार भेद निम्न हैं

सूत्रार्थ--१-तथोपपत्ति, २–अन्यथानुपपत्ति ॥४॥

८–साध्य के होने पर ही साधन का होना तथोपपत्ति है और साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना 'अन्यथानुपपत्ति, है। यथा–यह पर्वत अग्निमान् है क्योंकि अग्निमान् होने पर ही धूमवान् हो सकता है (यह तथोपपत्ति है)। अग्निमान् न होने पर धूमवान् नहीं हो सकता (यह अन्यथानुपपत्ति है)। परार्थानुमान के जो दो भेद कहे हैं, उनमें इतना सा ही अन्तर है। कोई वास्तविक भेद नहीं है ॥४॥

९-इसी बात को निम्न सूत्र में भी कहते हैं–

सूत्रार्थ-तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के अर्थ में भेद नहीं है ॥५॥

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति यह दो प्रयोग के प्रकार हैं। इन दोनों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। शब्द का जो पर-प्रकृष्ट अर्थ है वह तात्पर्य कहलाता है। अभिप्राय यह है कि शब्द का वाच्य अलग होता है और प्रकाश्य-प्रयोजन अलग होता है। यहाँ वाच्य की अपेक्षा से वाचकत्व में भेद हो जाता है, फिर भी प्रकाश्य (आशय) एक ही है। अन्वय (तथोपपत्ति) के कहने से व्यतिरेक (अन्यथानुपपत्ति) का ज्ञान हो जाता है और व्यतिरेकके कहनेसे अन्वयका ज्ञान होजाता है अन्वय और व्यतिरेक दोनों का आशय साधन के साथ साध्य का अविनाभाव प्रदर्शित करना है

साधनस्य साध्याविनाभावः प्रकाश्यते । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि । नहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनो देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि भेत्तव्यमिति भावः ॥५॥

११–तात्पर्याभेदस्यैव फलमाह—

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥

१२–यत एव नानयोस्तात्पर्ये भेदः 'अत एव नोभयोः' तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्त्योर्युगपत् 'प्रयोगः' युक्तः । व्याप्त्युपदर्शनाय हि तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः प्रयोगः क्रियते । व्याप्त्युपदर्शनं चैकयैव सिद्धमिति विफलो द्वयोः प्रयोगः । यदाह–

"हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥(न्याया० १७)

१३–ननु यद्येकेनैव प्रयोगेण हेतोर्व्याप्त्युपदर्शनं कृतमिति कृतं विफलेन द्वितीयप्रयोगेण; तर्हि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विफलत्वात् । नहि प्रतिज्ञामात्रात् कश्चिदर्थं प्रतिपद्यते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह–

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

(अन्वय का वाच्य विधि और व्यतिरेक का वाच्य निषेध है) मगर ऐसी कोई बात नहीं कि जहाँ वाच्य का भेद हो वहाँ तात्पर्य में भी भेद होना ही चाहिए । यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, और 'यह मोटा ताजा देवदत्त रात्रि में भोजन करता है इन दोनों में वाच्य भेद तो है मगर तात्पर्य में भेद नहीं ॥५॥

११–तात्पर्य भेद--अभेद का फल—

सूत्रार्थ-अतएव दोनों का प्रयोग नहीं किया जाता ॥६॥

१२--तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के तात्पर्य में भेद नहीं है,इस कारण दोनों का एक साथ प्रयोग करना उचित नहीं है । तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के द्वारा हेतु का जो प्रयोग किया जाता है उसका प्रयोजन व्याप्ति को दिखलाना ही है और यह प्रयोजन दोनों में से किसी भी एक के प्रयोग से सिद्ध हो जाता है । अतएव दोनों का प्रयोग करना निष्फल है । कहा भी है–

'हेतु का प्रयोग या तो तथोपपत्ति से होता है या अन्यथानुपपत्ति से होता है । दोनों में से किसी भी एक से साध्य की सिद्धि हो जाती है।

१३-शंका--दो में से किसी एक प्रयोग से ही यदि हेतु की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है इस कारण दूसरा प्रयोग निष्फल है और आवश्यकता नहीं है तो निष्फल होने के कारण ही प्रतिज्ञा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए । प्रतिज्ञा मात्र से ही कोई किसी अर्थ को स्वीकार नहीं कर लेता । यदि स्वीकार कर लेता होता तो कोई विवाद ही न रहता । इस शंका का समाधान अगले सूत्र में करते हैं--

सूत्रार्थ-प्रतिज्ञा विषय के उपदर्शन के लिए होती है ॥६॥

१४–'विषयः'यत्र तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा हेतुः स्वसाध्यसाधनाय प्रार्थ्यते, तस्य 'उपदर्शनम्' परप्रतीतावारोपणं तदर्थं पुनः 'प्रतिज्ञा' प्रयोक्तव्येति शेषः।

१५-अयमर्थः-परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे बोधयितव्या यद्बुभुत्सन्ते। तथासत्यनेन बुभुत्सिताभिधायिना परे बोधिता भवन्ति। न खल्वश्वान् पृष्टो गवयान् ब्रुवाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति। अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम?। यथा च शैक्षो भिक्षुणाचचक्षे-भोः शैक्ष, पिण्डपातमाहरेति। स एवमाचरामीत्यनभिधाय यदा तदर्थं प्रयतते तदाऽस्मै क्रुध्यति भिक्षुः-आः शिष्याभास, भिक्षुखेट, अस्मानवधीरयसीति विब्रुवाणः। एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय अनित्यः शब्द इति विषयमनुपदर्श्य यदेव किञ्चिदुच्यते-कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा,कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा,तत् सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानबुद्ध्या; तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति।

१६–यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनैवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेत्; न, परस्पराश्रयात्।

१४– जिस स्थल में अपने साध्य को सिद्ध करने के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति के द्वारा हेतु का प्रयोग किया जाता है वह स्थल यहाँ विषय कहा गया है, उस स्थल को दूसरे को समझाने के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना चाहिए।

१५–आशय यह है–दूसरे को समझाने के लिए वचन प्रयोग करने वाले वक्ता का कर्त्तव्य है कि वह वही समझाए जो दूसरे समझना चाहते हों। ऐसा करके वह दूसरों को समझा सकता है। अश्व के विषय में पूछा जाय और गवय के विषय में जो उत्तर दे, उसके वचनों से कुछ निश्चय नहीं होता। ऐसा वक्ता किस काम का ? उसके वचन ग्राह्य नहीं हो सकते। एक भिक्षु ने अपने शिष्य से कहा–'आहार–पानी ले आओ।' वह शिष्य 'लाता हूँ' ऐसा कहे बिना ही जब आहार–पानी के लिए प्रयत्न करता है, तब भिक्षु उसपर क्रोध करता और निंदा करता है–अरे शिष्याभास ! नीच भिक्षु ! तू हमारी अवहेलना करता है ?

इसी प्रकार जो व्यक्ति शब्द की अनित्यता को समझना चाहता है, उसके समक्ष 'शब्द अनित्य है' ऐसा कहे बिना ही यदि वक्ता अन्यान्य बातें कहता है, जैसे-'कृतक होने से,' 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है', 'ऐसा होने पर ही कृतकता हो सकती है', 'अन्यथा कृतकता नहीं हो सकती' इत्यादि, तो यह सब वाक्य उसके लिए अनपेक्षित हैं, क्योंकि आपाततः वह असम्बद्ध अप्रासंगिक-से प्रतीत होते हैं। असावधान श्रोता को ऐसे वचनों से कोई बोध प्राप्त नहीं होता।

१६––शंका––'जो कृतक होता है वह सब अनित्य होता है, जैसे घट, शब्द भी कृतक है' इस प्रकार का वचनप्रयोग अर्थ के सामर्थ्य से शब्द की अनित्यता का निश्चायक हो जाता है' यही अवधान यहाँ पर है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष आयेगा।

अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति। न च पर्षत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ यदेतद्वचनसम्बन्धाय प्रयतिष्येते। तथासति न हेत्वाद्यपेक्षेयाताम् तदवचनादेव तदर्थनिश्चयात्। अनित्यः शब्द इति त्वपेक्षिते उक्ते कुत इत्याशङ्कायां कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वेत्युपतिष्ठते, तदिदं विषयोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥

१७–ननु यत् कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकश्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यः शब्द इति तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्,तथापि तद्वचने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम्"[न्यायसू ५. २. १५]। आह च डिण्डिकरागं परित्यज्याक्षिणी निमील्य चिन्तय तावत् किमियता प्रतीतिः स्यान्नवेति, भावे किं प्रपञ्चमालया(हेतु०परि० १) इत्याह—

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥८॥

१८–साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तस्य सन्देहस्तदपनोदाय–यः कृतकः सोऽनित्य

अवधान होने पर वचन से अर्थ का निश्चय हो और अर्थनिश्चय से अवधान हो। शंका--वादी को प्रमाणित करने वाले पर्षन और प्रतिवादी वादी के वचन का संबन्ध जोडने के लिए प्रयत्न करेंगे, समाधान--ऐसा होने पर पर्षत् और प्रतिवादी हेतु आदि की अपेक्षा नहीं करेंगे बल्कि उनके वचन से ही अर्थ का निश्चय कर लेंगे। शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर ,वह कैसे' ऐसी आशंका उपस्थित होने पर कृतकत्व तभी संभव हो सकता है अथवा कृतकत्व अन्यथा हो नहीं सकता ऐसा समाधान किया जाता है इस प्रकार विषय दिखलाने के लिये प्रतिज्ञा का प्रयोग आवश्यक है।

१७--शंका--जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट, शब्द भी कृतक है ऐसा कहने, पर सामर्थ्य से ही (अर्थात् पक्ष का प्रयोग किये बिना ही) 'शब्द अनित्य' है ऐसा ज्ञान हो जाता है, फिर भी 'शब्द अनित्य है' ऐसा पक्षप्रयोग करने से पुनरुक्ति दोष होता है। जो विषय अर्थ के सामर्थ्य से ही विदित हो जाय उसे शब्द द्वारा पुनः कहना पुनरुक्ति है। कहा भी है–डिंडिकराग (लाल रंग के मूषक के समान आँखों की लालिमा) को त्याग कर अर्थात् शान्त होकर या नेत्रोंको निर्मल करके विचार करो कि अपने (पूर्वोक्त) कथन से शब्द अनित्य है, ऐसी प्रतीति हो जाती है या नहीं? अगर हो जाती है तो फिर विस्तार करने से क्या लाभ है? बौद्ध की इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं–

सूत्रार्थ-साध्य धर्म के आचारसंबंधी सन्देह का निवारण करने के लिए गम्यमान भी धर्मी-पक्ष का उच्चारण करना योग्य है, जैसे उपनय का उच्चारण किया जाता है ॥८॥

१८–'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है' इस प्रकार कहने पर भी धर्मो (पक्ष) के

इत्युक्तेऽपि धर्मिविषयसन्देह एव-किमनित्यः शब्दो घटो वेति?, तन्निराकरणाय गम्यमानस्यापि साध्यस्य निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवचनवत्। यथा हि साध्यव्याप्तसाधनदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्-कृतकश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारवचनं तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय प्रतिज्ञावचनमप्युपपद्यत एवेति ॥८॥

१९-ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथाहि-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानीति त्र्यवयवमनुमानमिति साङ्ख्याः। सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसकाः। सहनिगमनेन पञ्चावयवमिति नैयायिकाः। तदेवं विप्रतिपत्तौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह-

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥

विषय में सन्देह बना ही रहता है कि शब्द अनित्य है या घट ? किसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है ? अतएव साध्य के आचारसंबंधी संदेह को दूर करने के लिए पक्ष का कथन करना ही उचित है। जैसे पक्ष में साधन को समझाने के लिए उपनय का प्रयोग किया जाता है अर्थात् 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है,इसप्रकार साध्य के अविनाभावी साधन को प्रदर्शित करने से साधन का आधार प्रतीत हो जाता है, फिर भी नियत पक्ष के साथ साधन का संबंध दिखलाने के लिए ,शब्द भी कृतक है, इस प्रकार उपनय का प्रयोग किया जाताहै' उसी प्रकार साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए प्रतिज्ञा का भी प्रयोग करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि बौद्ध परार्थानुमान में प्रतिज्ञा के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं। उनकी युक्ति यह है कि व्याप्तिपूर्वक उपनय का प्रयोग करने से ही पक्ष (साध्य के आधार) का पता चल जाता है, फिर उसको अलग कहने से क्या लाभ है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि व्याप्ति के प्रयोग से साधन के आधार का पता चल जाने पर भी उसे अमुक धर्मी में निश्चित रूपसे समझाने के लिए आप उपनय का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उपनय के विना यह ज्ञात नहीं होता कि साधन का आधार क्या है? इसी प्रकार साध्य के निश्चित आधार को प्रदर्शित करने के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना भी आवश्यक है। यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग न किया जाएगा तो कैसे पता चलेगा कि साध्य किस जगह साधा जारहा है ? अतएव प्रतिज्ञा का प्रयोग करना भी आवश्यक ही है ॥८॥

१९-शंका-प्रयोग के विषय में वादियों का मतभेद है। यथा-सांख्यों का कथन है कि अनुमान के तीन अवयव हैं-प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। मीमांसकों के मतानुसार पूर्वोक्त तीन के साथ उपनय भी अनुमान का अवयव है। नैयायिक इनमें निगमन को सम्मिलित करके पाँच अवयव कहते हैं। इस प्रकार की मतविभिन्नता में अनुमान प्रयोग किस प्रकार का मानना चाहिए? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं-

सूत्रार्थ-प्रेक्षावान् प्रतिपाद्य के लिए इतना ही अनुमान प्रयोग है ॥९॥

२०-'एतावान्' एव यदुत तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च। 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिको यथाहुः साङ्ख्यादयः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः-"विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" (प्रमाणवा० १, २८) इति ॥९॥

२१-ननु परार्थप्रवृत्तैः कारुणिकैर्यथाकथञ्चित् परे प्रतिबोधयितव्या नासद्व्यवस्थोपन्यासैरमीषां प्रतिभाभङ्गः करणीयः, तत्किमुच्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः?, इत्याशङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति।

बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

२२-'बोध्यः' शिष्यस्तस्य 'अनुरोधः'तदवबोधनप्रतिज्ञापारतन्त्र्यं तस्मात् प्रतिज्ञादीनि पञ्चापि प्रयोक्तव्यानि। एतानि चावयवसञ्ज्ञया प्रोच्यन्ते। यदक्षपादः-"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्यायसू०,१,१ ३२) इति। 'अपि, शब्दात् प्रतिज्ञादीनां शुद्धयश्च पञ्च बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्याः। यच्छ्रीभद्रबाहुस्वामिपूज्यपादाः-"कत्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुट्ठं ति" (दश० नि०५०)।

२०-तथोपपत्ति अथवा अनुपपत्ति से युक्त साधन का तथा प्रतिज्ञा का प्रयोग करना, इतना ही बुद्धिमान् प्रतिपाद्य को समझाने के लिए अनुमान का प्रयोग उचित है। सांख्य आदि के कथनानुसार न तो इससे अधिक प्रयोग करना चाहिए और न बौद्धों के कथनानुसार कम ही प्रयोग करना चाहिए। जैसा कि उनका कथन है-'विद्वानों के लिए अकेले हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए ॥९॥

२१-परोपकार में प्रवृत्त करुणाशील पुरुषों को जिस प्रकार संभव हो, दूसरों को प्रतिबोध देना चाहिए, असत् व्यवस्था का उपन्यास करके उनकी प्रतीति को भंग नहीं करना चाहिए। तो फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि बुद्धिमानों के प्रति प्रतिज्ञा और हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए? इस प्रकार की आशंका करके दूसरा प्रयोगक्रम बतलाते हैं-

सूत्रार्थ-शिष्य के अनुरोध से प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पाँचों अवयवों का प्रयोग करना चाहिए ॥१०॥

२२-बोध्य अर्थात् शिष्य। अनुरोध अर्थात् उसको समझाने की प्रतिज्ञा की परतंत्रता। तात्पर्य यह है कि प्रतिपादक प्रतिपाद्य को वस्तुस्वरूप समझा देने के लिए कृतसंकल्प होता है, अतएव यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का प्रयोग भी करना चाहिए। प्रतिज्ञा आदि पाँचों 'अवयव'कहलाते हैं। अक्षपाद ने भी इन्हें अवयव ही कहा है. यथा-'प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'। सूत्र में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से यह सूचित किया गया है कि यदि शिष्य को समझाने के लिए आवश्यक हो तो प्रतिज्ञा आदि अवयवों की पाँच शुद्धियों का भी प्रयोग करना चाहिए। पूज्यपाद श्रीभद्रबाहु स्वामी ने कहा है-कहीं-कहीं पाँच अवयववाला अथवा दस अवयव वाला भी परार्थानुमान होता है। उसका सर्वथा निषेध नहीं किया है ॥१०॥

२३-तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणमाह-

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

५४-साध्यं सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी, निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो वचनम् साध्यस्य निर्देशः साध्यनिर्देशः' प्रतिज्ञा प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽग्निमानिति ॥११॥

२५-हेतुं लक्षयति-

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥१२॥

२६-साधनत्वाभिव्यञ्जिका विभक्तिः पञ्चमी तृतीया वा, तदन्तम् 'साधनस्य उक्तलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथमं पदम् । अव्याप्तवचनहेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । स द्विविधस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम् तद्यथा धूमस्य तथैवोपपत्तेर्धूमस्यान्यथानुपपत्तेर्वेति ॥१२॥

२७-उदाहरणं लक्षयति-

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

---

२३ प्रतिज्ञा का लक्षण--सूत्रार्थ--साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है।

२४-जिसे सिद्ध करना इष्ट है उस धर्म से युक्त धर्मी को यहाँ 'साध्य, समझना चाहिए उस साध्य को कहना प्रतिज्ञा कहलाता है। जैसे 'यह प्रदेश अग्निमान् है।'यहाँ अग्निमत्त्व धर्म सिद्ध करना इष्ट है और उस धर्म से युक्त धर्मी 'यह प्रदेश, है। इस प्रकार साध्य से धर्मी का कथन 'प्रतिज्ञा, है ॥११॥

२५-हेतु का लक्षण-सूत्रार्थ-साधनत्व को प्रकट करने वाली विभक्ति जिसके अन्त में हो ऐसा साधन का कथन 'हेतु, कहलाता है ॥१२॥

२६-साधनत्व को प्रकट करने वाली विभक्ति पंचमी अथवा तृतीया मानी गई है। इन दोनों में से किसी विभक्ति वाले तथा पूर्वोक्त लक्षण से युक्त साधन का कथन करना हेतु है। 'धूम, इतना मात्र कह देना हेतु नहीं है। इस बात को प्रकट करने के लिए साधनत्वाभिव्यञ्जक विभक्त्यन्तम्,इस पद का प्रयोग किया है और साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति न हो वह हेतु नहीं हो सकता, यह बतलाने के लिए 'साधन वचन,इस पद का प्रयोग किया है। ऐसा हेतु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से दो प्रकार का कहा गया है' जैसे 'क्योंकि धूम अग्नि के होने पर ही हो सकता है (तथोपपत्ति) और 'क्योंकि धूम अग्नि के अभाव में नहीं हो सकता (अन्यथा–नुपपत्ति)॥१२॥

२७—उदाहरण का लक्षण—सूत्रार्थ—दृष्टान्त का कथन उदाहरण कहलाता है ॥३१॥

२८–'दृष्टान्तः उक्तलक्षणस्तत्प्रतिपादकं 'वचनम्' 'उदाहरणम्' तदपि द्विविधं दृष्टान्तभेदात्। साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं साधर्म्योदाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसप्रदेशः। साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचनं वैधर्म्योदाहरणम्,यथा योऽग्निनिवृत्तिमान् स धूमनिवृत्तिमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

२९–उपनयलक्षणमाह–

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

३०–दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः 'उपसंहारः' सः 'उपनयः' उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमवांश्चायमिति ॥१४॥

३१–निगमनं लक्षयति–

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

३२–साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्यते पूर्वेषामवयवानामर्थोऽनेनेति 'निगमनम्', यथा तस्मादग्निमानिति।

३३–एते नान्तरीयकत्वप्रतिपादका वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवाः। एतेषामेव

२८–दृष्टान्त का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। उसका प्रतिपादक वचन उदाहरण कहलाता है। दृष्टान्त के दो भेद होने से उदाहरण के भी दो भेद हैं। साधनधर्म के होने के कारण जो साध्यधर्मवाला हो, वह साधर्म्यदृष्टान्त कहा गया है और उसका प्रतिपादक वचन साधर्म्योदाहरण है। जैसे-जो जो धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् होता है,जैसे पाकशाला। साध्य के अभाव के कारण जहाँ साधन का अभाव हो, वह वैधर्म्यदृष्टान्त कहा जा चुका है। उसका प्रतिपादक वचन वैधर्म्योदाहरण है। जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता। जैसे जलाशय--तालाब वगैरह ॥१३॥

२९-उपनय का स्वरूप–सूत्रार्थ--पक्ष में साधन को दोहराना उपनय है ॥१४॥

३०–सपक्ष में फैले हुए साधन का पक्ष में उपसंहार करना उपनय कहलाता है। जिस वचन के द्वारा उपसंहरण या उपनयन-प्रापण किया जाय वह उपसंहार या उपनय है। अर्थात् व्याप्ति बोलने के पश्चात् पक्ष में हेतु को दोहराना उपनय है। जैसे 'पर्वत भी धूमवान् है ॥१४॥

३१–निगमन का लक्षण--सूत्रार्थ-साध्य का पक्ष में दोहराना निगमन है।

३२—पहले बोले हुए समस्त अवयवों का प्रयोजन जिससे निगमित-निश्चित होता है उसे निगमन समझना चाहिए। जैसे 'इस कारण अग्निमान् है।

३३-परार्थानुमान के यह पाँच अवयव हैं,जो अविनाभाव के प्रतिपादक हैं।

(१)–पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा) (२) क्योंकि पर्वत में धूम है (हेतु) (३) (जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है,(व्याप्ति) जैसे पाकशाला (उदाहरण) (४) इस पर्वत में भी धूम है (उपनय) (५) इस कारण पर्वत में अग्नि है (निगमन)

शुद्धयः पञ्च । यतो न शङ्कितसमारोपितदोषाः पञ्चाप्यवयवाः स्वां स्वामनादीनवामर्थविषयां धियमाधातुमलमिति प्रतिज्ञादीनां तं तं दोषमाशङ्क्य तत्परिहाररूपाः पञ्चैव शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवमिदमनुमानवाक्यं बोध्यानुरोधात् प्रयोक्तव्यमिति ॥१५॥

३४-इह शास्त्रे येषां लक्षणमुक्तं ते तल्लक्षणाभावे तदाभासाः सुप्रसिद्धा एव। यथा प्रमाणसामान्यलक्षणाभावे संशयविपर्ययानध्यवसायाः प्रमाणाभासाः, संशयादिलक्षणाभावे संशयाद्याभासाः,प्रत्यक्षलक्षणाभावे प्रत्यक्षाभासम्,परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्यादीनां स्वस्वलक्षणाभावे तत्तदाभासतेत्यादि । एवं हेतूनामपि स्वलक्षणाभावे हेत्वाभासता सुज्ञानैव । केवलं हेत्वाभासानां सङ्ख्यानियमः प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं नेषत्करप्रतिपत्तीति तल्लक्षणार्थमाह-

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

३५-अहेतवो हेतुवदाभासमानाः 'हेत्वाभासाः'असिद्धादयः । यद्यपि साधनदोषा एवैते अदुष्टे साधने तदभावात्, तथापि साधनाभिधायके हेतावुपचारात् पूर्वाचार्यैरभिहितास्ततस्तत्प्रसिद्धिबाधामनाश्रयद्भिरस्माभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति ।

इन्हीं पाँच अवयवों की पाँच शुद्धियाँ होती हैं,क्योंकि इन अवयवों में दोष की आशंका हो या दोष का आरोपण किया गया हो तो वे निर्दोष और निश्चित ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते । अतएव इन अवयवों में दोष की आशंका करके उनका परिहार करना चाहिए । यही पाँच शुद्धियों का कथन करना है । इस प्रकार शिष्य के अनुरोध से अनुमान-वाक्य के दस अवयव हो जाते हैं ।।१५।।

३४-इस शास्त्र में जिसका जो लक्षण कहा है, उस लक्षण के अभाव में वह तदाभास हो जाता है । जैसे प्रमाणसामान्य के लक्षण के अभाव में संशय विपर्यय और अनध्यवसाय प्रमाणाभास हैं जिसमें संशय का लक्षण घटित न हो वह संशयाभास है । प्रत्यक्ष के लक्षण के अभाव में प्रत्यक्षाभास है, परोक्ष के अन्तर्गत स्मरण आदि में उनका लक्षण न पाया जाय तो उन्हें स्मरणाभास आदि समझना चाहिए । इसी प्रकार हेतुओं में यदि हेतु का पूर्वोक्त लक्षण न हो तो वे हेत्वाभास हो जाते हैं । हेत्वाभासों की संख्या और उनके पृथक् पृथक् लक्षण को समझने में कुछ कठिनाई होती है, अतएव उनका यहाँ निरूपण किया जाता है-

सूत्रार्थ-असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक, ये तीन हेत्वाभास हैं ।। १६ ।।

३५-जो वस्तुतः हेतु तो न हों किन्तु हेतु के समान प्रतीत होते हों, वे असिद्ध आदि हेत्वाभास कहलाते हैं । यद्यपि असिद्धता आदि साधन के दोष हैं, फिर भी पूर्वाचार्योंने साधन के वचन रूप हेतु में उपचा र करके इन्हें हेत्वाभास कहा है । अतः उनकी प्रसिद्धि में कोई बाधा न डालते हुए हमने भी उन्हें हेतुदोष ही कह दिया है ।

३६-'त्रय' इति सङ्ख्यान्तरव्यवच्छेदार्थम् । तेन कालातीत-प्रकरणसमयोर्व्यवच्छेदः | तत्र कालातीतस्य पक्षदोषेष्वन्तर्भावः | "प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः"इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवयवी कृतकत्वाद् घटवदिति । प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नह्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणेऽनुमाने प्रयुक्तेऽदूषिते वाऽनुमानान्तरस्य । यत्तूदाहरणम्-अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् इत्येकेनोक्ते द्वितीय आह-नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति । तदतीवासाम्प्रतम् । को हि चतुरङ्गसभायां वादी प्रतिवादी वैवंविधमसम्बद्धमनुन्मत्तोऽभिदधीतेति ? ।।१६।।

३७-तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह—

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ।।१७।।

३८-'असन्' अविद्यमानो 'नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्यासिद्धौ 'असिद्धः' हेत्वाभासः

३६-सूत्र में प्रयुक्त 'त्रय' पद उनकी न्यूनाधिक संख्या का व्यवच्छेद करने के लिए है; अर्थात् हेत्वाभास न तीन से कम हैं, न अधिक हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए है । इस पद से नैयायिकों को मान्य कालातीत (कालात्ययापदिष्ट) और प्रकरणसम हेत्वाभासों का निषेध हो जाता है उनमें से कालातीत हेत्वाभास का पक्ष के दोषोंमें ही समावेश हो जाता है, क्योंकि नैयायिकों ने प्रत्यक्ष और आगम से बाधित साध्यप्रयोग के अनन्तर प्रयुक्त हेतु को कालात्ययापदिष्ट कहा है । जैसे तेज- अवयवी अनुष्ण है,[१] क्योंकि वह कृतक है, जैसे घट ।

जिस हेतु का समान बल वाला विरोधी हेतु हो वह प्रकरण सम हेत्वाभास कहा गया है, किन्तु प्रकरणसम हेत्वाभास संभव ही नहीं है । पूर्वोक्त लक्षण वाले अनुमान का प्रयोग किया जाय और उसको दूषित न किया जाय, फिर भी उसका विरोध दूसरा अनुमान उपस्थित हो, यह असंभव है । प्रकरणसम हेत्वाभास का यह उदाहरण दिया जाता है-शब्द अनित्य है, क्योंकि वह पक्ष और सपक्ष में से अन्यतर (कोई एक) है । इस प्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी कहता है ।- 'शब्द नित्य है क्योंकि वह पक्ष और सपक्ष में से अन्यतर है । किन्तु यह उदाहरण बहुत ही अयुक्त है । चतुरंग वादी, प्रतिवादी ,सभ्य और सभापति से युक्त-सभा में कौन वादी या प्रतिवादी इस प्रकार पागल की भाँति असम्बद्ध भाषण करेगा ? ।।१६।।

३७-असिद्ध हेत्वाभास-सूत्रार्थ-असत् और अनिश्चितसत्त्व हेतु अन्यथानुपपन्न नहीं होता, अतएव सत्ता के असिद्ध अथवा सन्देह में वह असिद्ध कहलाता है ।।१७।।

३८-असत् अर्थात् अविद्यमान हेतु में अन्यथानुपपत्ति नहीं होती, अतएव जिसकी सत्ता ही

१-जैनमान्यता के अनुसार यहीं पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा है और यह आवश्यक नहीं कि पक्ष में बाधा होने से हेतु भी बाधित होना ही चाहिए ।

स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः। यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति। अपक्षधर्मत्वादयमसिद्ध इति न मन्तव्यमित्याह-नान्यथानुपपन्नः' इति। अन्यथानुपपत्तिरूपहेतुलक्षणविरहादयमसिद्धो नापक्षधर्मत्वात्। नहि पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं तदभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिबलाद्धेतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम्। भट्टोप्याह-

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥" इति।

३९-तथा 'अनिश्चितसत्त्वः' सन्दिग्धसत्त्वः नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्देहेप्यसिद्धो हेत्वाभासः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः। यथा बाष्पादिभावेन सन्दिह्यमाना धूमलताग्निसिद्धावुपदिश्यमाना, यथा चात्मनः सिद्धावपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, प्रमाणाभावादिति ॥१७॥

४०-असिद्धप्रभेदानाह—

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥१८॥

सिद्ध नहीं है वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। यथा 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष है (यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्द में अविद्यमान है)। किन्तु यह चाक्षुषत्व हेतु पक्ष में न रहने से असिद्ध है ऐसा नहीं मानना चाहिए, यह प्रगट करने के लिए 'नान्यथानुपपन्नः, ऐसा कहा है। अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु का लक्षण न होने से यह असिद्ध है, पक्षधर्मता के अभाव से नहीं। क्योंकि पक्षधर्मता न होने पर भी जहाँ अन्यथानुपपत्ति होती है वहाँ हेतु गमक होता है। अतएव पक्षधर्मता हेतु का लक्षण नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। भट्ट ने भी कहा है—

माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र के ब्राह्मण होने का अनुमान सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु इस अनुमान के लिए पक्षधर्मता की अपेक्षा नहीं होती। तात्पर्य यह है कि माता पिता का ब्राह्मणत्व माता पिता में ही रहता है-पुत्र में नहीं, अतएव यहाँ पक्षधर्मता नहीं है, तथापि लोक में यह अनुमान समीचीन माना जाता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि 'पक्षधर्मता' हेतु का स्वरूप नहीं है।

३९-तथा जो हेतु अनिश्चित (संदिग्ध सत्त्ववाला होता है वह भी अन्यथानुपपत्ति से रहित होने के कारण असिद्ध कहलाता हैं। उसे संदिग्धासिद्धहेत्वाभास कहते हैं। जैसे यह बाष्प है या धूम है ऐसा सन्देह होने पर अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया गया धूम हेतु संदिग्धासिद्ध है। आत्मा सिद्ध है तथापि उसकी सर्वव्यापकता सिद्ध करने के लिए कोई ऐसा हेतु प्रयोग करे-'आत्मा सर्वव्यापक है क्योंकि उसके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, यहाँ आत्मिक गुणों का सर्वत्र उपलब्ध होना संदिग्धासिद्ध है, क्योंकि उनकी उपलब्धि में कोई प्रमाण नहीं है ॥१७॥

४०-असिद्ध हेत्वाभास के भेद-सूत्रार्थ- वादी, प्रतिवादी और उभय के भेद से असिद्ध हेत्वाभास में भी भेद हो जाता है ॥१८॥

४१–'वादी' पूर्वपक्षस्थितः 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः उभयं द्वावेव वादिप्रतिवादिनौ। तद्भेदादसिद्धस्य 'भेदः'। तत्र वाद्यसिद्धो यथा परिणामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात्। अयं साङ्ख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिमत्त्वस्यानभ्युपेतत्वात्, नासदुत्पद्यते नापि सद्विनश्यत्युत्पादविनाशयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वादिति तत्सिद्धान्तात्। चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात्। अत्र मरणं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं तरुषु बौद्धस्य प्रतिवादिनोऽसिद्धम्। उभयासिद्धस्तु चाक्षुषत्वमुक्तमेव। एवं सन्दिग्धासिद्धोऽपि वादिप्रतिवाद्युभयभेदात् त्रिविधो बोद्धव्यः ॥१८॥

४२–नन्वन्येऽपि विशेष्यासिद्धादयो हेत्वाभासाः कैश्चिदिष्यन्ते ते कस्मान्नोक्ता इत्याह–

४१–पूर्वपक्ष का आश्रय लेने वाला वादी और उत्तर पक्ष करने वाला प्रतिवादी कहलाता है। वादी और प्रतिवादी मिल कर उभय दोनों–कहलाते हैं। इनके भेद से असिद्ध हेत्वाभास में भी भेद होते हैं, अथात् कोई हेतु वादी को सिद्ध नहीं होता, कोई प्रतिवादी को नहीं होता। ऐसा हेतु अन्यतरासिद्ध कहलाता है। कोई हेतु ऐसा भी होता है जो दोनों को ही सिद्ध नहीं होता। वह उभयासिद्ध कहलाता है। इन तीनों के उदाहरण इस प्रकार हैं-

१–वाद्यसिद्ध–शब्द परिणामी है,क्योंकि उत्पत्तिमान् है यहाँ 'उत्पत्तिमान् है' यह हेतु स्वयं वादी सांख्य को असिद्ध है,क्योंकि सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानता। उनकी मान्यता के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता। उत्पत्ति और विनाश आविर्भाव और तिरोभाव मात्र ही हैं। अर्थात् सत् पदार्थ का आविर्भाव (व्यक्त) हो जाना ही उसकी उत्पत्ति है और सत् पदार्थ का तिरोभाव हो जाना (अव्यक्त हो जाना) ही विनाश कहलाता है - ऐसा सांख्य का सिद्धान्त है। (ऐसी स्थिति में जब सांख्य मीमांसक के प्रति कहता है कि 'शब्द परिणामी है क्योंकि उत्पत्तिमान् है' तो यहाँ उत्पत्तिमत्त्व हेतु स्वयं उसको ही सिद्ध नहीं है।

२––प्रतिवाद्यसिद्ध––वृक्ष सचेतन हैं, क्योंकि समस्त त्वचा हटा लेने पर उनका मरण हो जाता है। इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी बौद्ध को यह हेतु असिद्ध है। विज्ञान इंद्रिय और आयु का निरोध होना मरण कहलाता है और बौद्ध को बृक्षों का ऐसा मरण सिद्ध नहीं है।

३–उभयासिद्ध–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है। यहाँ शब्द की चाक्षुषता न वादी को सिद्ध है, न प्रतिवादी को।

सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास भी वादी प्रतिवादी और उभय के भेद से तीन प्रकार का समझ लेना चाहिए। अर्थात् जिस हेतु की सत्ता के विषय में वादी या प्रतिवादी को संदेह हो वह अन्यतर–सँदिग्धासिद्ध कहलाता है और जिसकी सत्ता दोनों के लिए संदिग्ध हो वह उभय संदिग्धासिद्ध कहलाता है ॥१८॥

४२–विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध आदि अन्य हेत्वाभास दूसरों ने माने हैं। उनका कथन आपने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है–

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥१९॥

४३-'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव । तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाह्रियन्ते । विशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् । विशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वे सति सामान्य विशेषवत्वात् । भागासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात् । आश्रयैकदेशासिद्धो यथा नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिल,: सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धभेदा यदान्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा वाद्यसिद्धाः प्रतिवाद्यसिद्धा वा

सूत्रार्थ-विशेष्यासिद्ध आदि का इन्हीं में समावेश हो जाता है । १९॥

४३-इन्हीं में अर्थात् पूर्वोक्त वादी-असिद्ध, प्रतिवादी-असिद्ध और उभयासिद्ध में विशेष्यासिद्ध आदि का अन्तर्भाव हो जाता है । विशेष्यासिद्ध आदि का उदाहरण इस प्रकार है-

१-विशेष्यासिद्ध-शब्द अनित्य है,क्योंकि वह सामान्य (शब्दत्व) वाला होते हुए चाक्षुष है। यहाँ चाक्षुषत्व यह विशेष्य है और वह शब्द में सिद्ध नहीं है । २-विशेषणासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष होते हुए सामान्य-विशेष शब्दत्वनामक अपरसामान्य वाला है। यहाँ हेतु का विशेषण चाक्षुष होते हुए,यह असिद्ध है । ३-भागासिद्ध—शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न जनित है । यहाँ प्रयत्नजन्यत्व मेघ-विद्युत् आदि के शब्दों में नहीं होता, अतएव यह हेतु भागासिद्ध या एकदेशासिद्ध है (४) आश्रयासिद्ध-प्रधान (प्रकृति) है, क्योंकि वह विश्व का परिणामी कारण है । (यहाँ हेतु का आश्रय-प्रधान नैयायिक आदि को सिद्ध नहीं है । (५) आश्रयैकदेशासिद्ध- प्रधान पुरुष और ईश्वर नित्य हैं । क्योंक वे अकृतक हैं । (यहाँ हेतु के तीन आश्रय हैं, उनमें से नैयायिकादि को प्रधान सिद्ध नहीं है, अतः आश्रय का एक देश असिद्ध है । (६) व्यर्थविशेष्यासिद्ध-शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक होते हुए सामान्यवान् है । (यहाँ 'क्योंकि कृतक है, इतना हेतु ही पर्याप्त था, सामान्यवान् कहना निरर्थक है' इस प्रकार इस हेतु का विशेष्य अंश व्यर्थ होने से असिद्ध है) (७) व्यर्थविशेषणासिद्ध- शब्द अनित्य है, क्योंकि सामान्यवान् होते हुए कृतक है । (यहाँ सामान्यवान् होते हुए विशेषण है और कृतकत्व विशेष्य है, किन्तु विशेषण निरर्थक है) (८) सदिग्धविशेष्यासिद्ध-आज भी कपिल रागादि से युक्त है, क्योंकि पुरुष होते हुये उन्हें तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है।) (यहाँ कपिल को तत्त्वज्ञान का उत्पन्न न होना संदिग्ध है) । (९) संदिग्धविशेषणासिद्ध-आज भी कपिल रागादि से युक्त है, क्योंकि वह सर्वदा तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए पुरुष है। (यहाँ पूर्ववत् विशेषण संदिग्ध है ।)

ये जो असिद्ध हेत्वाभास के भेद कहे गए हैं,इनमें से जो वादी या प्रतिवादी को सिद्ध नहीं है

भवन्ति। यदोभयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदोभयासिद्धा भवन्ति ॥१९॥

४४–विरुद्धस्य लक्षणमाह–

विपरीतानियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः २०॥

४५–'विपरीतः' यथोक्ताद्विपर्यस्तो 'नियमः' अविनाभावो यस्य स तथा, तस्यैवोपदर्शनम् 'अन्यथैवोपपद्यमानः' इति। यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदित्यत्रासंहतपारार्थ्ये साध्ये चक्षुरादीनां संहतत्वं विरुद्धम्। बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशरीरसर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कार्यत्वं विरुद्धसाधनाद्विरुद्धम्।

४६–अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः। यथा सति सपक्षे चत्वारो भेदाः। पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्। पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षैक-

---

वह अन्यतरासिद्ध में समाविष्ट हो जाता है और जब यह दोनों-वादी और प्रतिवादी को सिद्ध नहीं होते तो उभयासिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार इन सभी का पूर्वोक्त असिद्ध हेत्वाभासों में अन्तर्भाव हो जाता है ॥१९॥

४४–विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण–सूत्रार्थ–जिसका अविनाभाव साध्य से विपरीत के साथ हो अतएव जो साध्य के विना ही होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है ॥२०।

४५--पहले कहा जा चुका है कि साध्य के विना न होना हेतु का लक्षण है, किन्तु जो हेतु इससे विपरीत हो अर्थात् साध्य के विना ही होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे–शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है।(कार्य हेतु नित्यत्व साध्य से विपरीत अनित्यत्व के होने पर हो सकता है)।

चक्षु आदि इन्द्रियाँ परार्थ (आत्मार्थ) हैं, क्योंकि संघातरूप हैं। जैसे शयन अशन आदि के अंग। यहाँ असंहतपरार्थता सिद्ध करने के लिए चक्षु आदि की संहतता विरुद्ध है।

पृथ्वी आदि बुद्धिमत्कर्तृक हैं, क्योंकि कार्य हैं। यहाँ अशरीर सर्वज्ञकर्तृकता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त 'कार्य' हेतुविरुद्ध है। क्योंकि वह सशरीर और असर्वज्ञ कर्त्ता को सिद्ध करता है।

४६—अन्य लोगों ने विरुद्ध हेत्वाभास के जो अन्य उदाहरण दिए हैं, उन सब का संग्रह इसी लक्षण से हो जाता है। यथा-सपक्ष की विद्यमानता में चार भेद होते हैं।

(१) पक्ष–विपक्षव्यापक--शब्द नित्य है, क्योंकि कार्य है। (यहाँ कार्य हेतु पक्ष 'शब्द, में और विपक्ष 'घटादि, में व्याप्त है।) (२) पक्षव्यापक और विपक्षैकदेशवृत्ति- शब्द नित्य है क्योंकि वह सामान्यवान् होता हुआ हमारी बाह्य इन्द्रिय श्रोत्र द्वारा १ग्राह्य है। (यहाँ हेतु पक्ष में व्याप्त

१-नैयायिक मत के अनुसार जो वस्तु जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होती है, उसमें रहने वाली जाति (सामान्य) भी उसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती है।

देशवृत्तिविपक्षव्यापको यथा नित्या पृथ्वी कृतकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दोऽपदात्मकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । एषु च चतुर्षु विरुद्धता,पक्षैकदेशवृत्तिषु,चतुर्षु पुनरसिद्धता विरुद्धता चेत्युभयसमावेश इति ।।२०।।

४७–अनैकान्तिकस्य लक्षणमाह—

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ।।२१।।

है । किन्तु घटादि विपक्षों में रहता है और द्वयणुक तथा सुख–दुःख आदि विपक्षों में नहीं रहते अतः विपक्ष में कहीं रहता है कहीं नहीं (३) पक्षैक-देशवृत्ति-विपक्षव्यापक--जो हेतु पक्षके एक भाग में रहे, दूसरे भाग में न रहे, किन्तु विपक्षमें व्याप्त हो कर रहे । जैसे पृथ्वी नित्य है क्योंकि कृतक है । (यहाँ कृतकत्व हेतु परमाणुरूप पृथ्वी में नहीं रहता, कार्यरूप पृथ्वी में रहता है अतः पक्षैकदेशवृत्ति है, किन्तु विपक्ष--अनित्य पदार्थों में व्याप्त है) । (४) पक्षविपक्षैकदेश–वृत्ति --शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नान्तरीयक है । (यह हेतु पक्ष –शब्द के एक देश में और विपक्ष (अनित्यपदार्थों)के भी एक देश में रहता है अर्थात् घटादि में रहता है, विद्युत् आदि में रहता । सपक्ष की अविद्यमानता में भी चार भेद होते हैं–

(१) पक्षविपक्षव्यापक-शब्द आकाश का विशेष गुण है,क्योंकि प्रमेय है । (यहाँ प्रमेयत्व हेतु शब्द में व्याप्त है और विपक्ष घटादि में भी व्याप्त होकर रहता है । सपक्ष यहाँ संभव नहीं है क्योंकि आकाश का शब्द के अतिरिक्त दूसरा कोई विशेष गुण नहीं माना गया है । इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिए)। (२) पक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति–शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि बाह्य इन्द्रिय (श्रोत्र) के द्वारा ग्राह्य है । यहाँ बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्व पक्ष –शब्द में व्यापक रूप से रहता है और विपक्ष में कहीं रहता है कहीं नहीं, घटादि में रहता है, सुख–दुःख में नहीं) । (३) पक्षैकदेशवृत्ति–विपक्षव्यापक-शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योंकि वह अपदात्मक है । (यहाँ अपदात्मकत्व मेघादि की ध्वनि में रहता है, किन्तु पदरूप शब्दसंयोग में नहीं रहता, अतः पक्ष के एक देश में रहता है किन्तु विपक्ष में व्यापक रूप से रहता है,क्योंकि शब्देतर सभी पदार्थ अपद रूप ही होते हैं) । (४) पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति—शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि प्रयत्नान्तरीयक है (यहाँ प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु पक्ष और विपक्ष के एक–एक देश में रहता है । इन हेतुओं में से चार हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं, किन्तु पक्ष के एक देश में रहने वाले चार हेतु असिद्ध भी हैं और विरुद्ध भी हैं । इनमें दोनों दोषों का समावेश होता है ।।।२०।।

४७–अनैकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण–सूत्रार्थ—अविनाभाव नियम की असिद्धि अथवा उसमें सन्देह होने पर साध्य के विना भी होने वाला हेतु अनैकान्तिक कहलाता है । ।।२१।।

४८–'नियमः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनैकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, प्रमेयत्वं नित्येऽप्याकाशादावस्तीति । सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात् । स्वभावविप्रकृष्टाभ्यां हि सर्वज्ञत्ववीतरागत्वाभ्यां न वक्तृत्वस्य विरोधः सिद्धः, न च रागादिकार्यं वचनमिति सन्दिग्धोऽन्वयः । ये चान्येऽन्यैरनैकान्तिकभेदा उदाहृतास्त उक्तलक्षण एवान्तर्भवन्ति | पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा गौरयं विषाणित्वात् । पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नायं गौः विषाणित्वात् । पक्षव्यापकः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्यः शब्दः प्रत्यक्षत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षविपक्षव्यापको यथा न द्रव्याण्याकाशकालदिगात्ममनांसि क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात् । पक्षविपक्षै-

---

४८–यहाँ नियम का अभिप्राय है अविनाभाव । वह सिद्ध न हो तो हेतु अनैकान्तिक हो जाता है । जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है । यहाँ प्रमेयत्व हेतु का अविनाभाव अनित्यता साध्य के साथ सिद्ध नहीं है,क्योंकि प्रमेयत्व आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी पाया जाता है।

साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव में यदि सन्देह हो तो भी हेतु अनैकान्तिक होता है । जैसे–अमुक पुरुष असर्वज्ञ अथवा रागादिमान् है, क्योंकि वक्ता है । स्वभाव से ही विप्रकृष्ट सर्वज्ञता और वीतरागता के साथ वक्तृत्व का विरोध सिद्ध नहीं है अर्थात् जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता या वीतराग नहीं होता, ऐसा अविनाभाव निश्चित नहीं है,क्योंकि वचन रागादि या असर्वज्ञता का कार्य नहीं है अतएव यहाँ वक्तृत्व और असर्वज्ञता की व्याप्ति संदिग्ध है । (इस कारण वक्तृत्व हेतु अनैकान्तिक है ।)

अन्य लोगों ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के जो अन्य भेद कहे हैं वे सब पूर्वोक्त लक्षण में ही अन्तर्गत हो जाते हैं । वे भेद इस प्रकार हैं–(१) पक्ष, सपक्ष,विपक्ष में व्याप्त हो कर रहने वाला जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है । (यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में सपक्ष घटादि में और विपक्ष आत्मा आदि में व्याप्त है) । (२)-पक्ष और सपक्ष में व्याप्त तथा विपक्ष के एक देश में रहने वाला, जैसे यह पशु गौ है क्योंकि सींग वाला है ।(यहाँ शृंगवत्त्व हेतु सब गौओं में रहता है किन्तु विपक्ष में कहीं रहता है, कहीं नहीं–महिष आदि में रहता है, अश्वादि में नहीं ।(३)-पक्ष और विपक्ष में व्यापक तथा सपक्ष के एक देश में रहने वाला, जैसे–यह गौ नहीं है, क्योंकि सींग वाला है । (यहाँ हेतु पक्ष में व्याप्त है, विपक्ष गौओं में व्याप्त है किन्तु सपक्ष के एक देश में रहता है–महिषादि में है, अश्वादि में नहीं ।) (४)-पक्ष में व्यापक, सपक्ष और विपक्ष के एक देश में रहने वाला, यथा–शब्द अनित्य है क्योंकि प्रत्यक्ष है । (यह हेतु पक्ष शब्द में व्यापक है, सपक्ष द्वयणुकादि में नहीं रहता घटादि में रहता है, विपक्ष सामान्य में रहता है, आकाश में नहीं ।) (५) पक्ष के एक भाग में रहने वाला किन्तु सपक्षऔर विपक्षमें व्यापक, जैसे–आकाश काल, दिक् और मन द्रव्य नहीं हैं क्योंकि क्षणिक विशेष गुण से रहित हैं । (यह हेतु पक्ष के एक देश में नहीं रहता, क्योंकि आत्मा में सुख और आकाश में शब्द क्षणिक विशेष गुण पाये जाते हैं, कालादि में हेतु पाया जाता है सपक्ष और विपक्षव्याप्त हो कर रहता है क्योंकि उनमें

कदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी यथा न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी यथा द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वादिति ॥२१॥

४९–उदाहरणदोषानाह–

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

५०–परार्थानुमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् तु दृष्टान्तदोषा इत्युच्यन्ते । दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्तवदाभासमानाः 'दृष्टान्ताभासाः' भवन्ति ॥२२॥

५१–तानेवोदाहरति विभजति च–

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म–परमाणु–घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥

क्षणिक विशेष गुण नहीं पाया जाता ।) (६)पक्ष और विपक्ष के एक देश में रहने वाला तथा सपक्ष में व्याप्त हो कर रहने वाला, यथा दिक् काल और मन द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि अमूर्त्त हैं (यहाँ अमूर्त्तत्व हेतु पक्ष के एक देश में रहता है एक देश में नहीं, क्योंकि मन अमूर्त्त नहीं है । विपक्ष द्रव्य हैं. उनमें से अमूर्त्तत्व हेतु भी आकाश में रहता है, पृथ्वी में नहीं, किन्तु सपक्ष गुणादि में व्याप्त होकर रहता है ।) (७)पक्ष और सपक्ष के एक देश में रहने वाला किन्तु विपक्ष में व्याप्त, जैसे–दिक् काल और मन द्रव्य हैं, क्योंकि अमूर्त्त हैं । (यहाँ द्रव्येतर पदार्थ विपक्ष हैं और अमूर्त्तत्व उनमें व्याप्त होकर रहता है ।) (८)पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों के एक देश में रहने वाला यथा पृथ्वी अनित्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष है । (यहाँ पक्ष परमाणु रूप पृथ्वी प्रत्यक्ष नहीं कार्य पृथ्वी प्रत्यक्षहै, अप् और तेज के द्वयणुक प्रत्यक्ष नहीं होते अतः सपक्ष के एक देश में रहता है और विपक्ष अर्थात् नित्य पदार्थों में से सामान्य आदि प्रत्यक्ष हैं, आकाश प्रत्यक्ष नहीं है । इस प्रकार तीनों के एक–एक देश में रहता है ।)॥२१॥

४९–उदाहरण के दोष—

सूत्रार्थ–साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दृष्टान्ताभास आठ-आठ प्रकार के हैं ॥२२॥

५०–परार्थानुमान का प्रकरण होने से उदाहरण के ही ये दोष हैं,किन्तु दृष्टान्त से उत्पन्न होने के कारण दृष्टान्त के दोष कहलाते हैं । दृष्टान्त दो प्रकार का है-साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त । इनमें से प्रत्येक के आठ–आठ दोष हैं । जो वस्तुतः दृष्टान्त के लक्षण से रहित हो किन्तु दृष्टान्त के सदृश प्रतीत हो वह दृष्टान्ताभास कहलाता है । ॥२२॥

५१—दृष्टान्तदोषों के उदाहरणविभाग–सूत्रार्थ–अमूर्त्तत्व हेतु से शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए कर्म, परमाणु और घट यह तीनों दृष्टान्त क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल हैं । ॥२३॥

५२–नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मादयो यथासङ्ख्यं साध्यादिविकलाः। तत्र कर्मवदिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः। परमाणुवदिति साधनविकलः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम्। घटवदिति साध्यसाधनोभयविकलः अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति। इति त्रयः साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥२४॥

५३–नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकर्माकाशाः' साध्यसाधनोभयाव्यतिरेकिणो दृष्टान्ताभासा भवन्ति। यन्नित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति यथा परमाणुरिति साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम्। यथा कर्मेति साधनाव्यावृत्तः, अमूर्तत्वात् कर्मणः। यथाकाशमित्युभयाव्यावृत्तः, नित्यत्वादमूर्त्तत्वाच्चाकाशस्येति त्रय एव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥२४॥

५४–तथा-

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥२५॥

५२- शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे कर्म। इस अनुमानप्रयोग में कर्म दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि कर्म नित्य नहीं, अनित्य है। परमाणुदृष्टान्त साधनविकल है, क्योंकि परमाणु अमूर्त्त नहीं, मूर्त्त है घट दृष्टान्त उभयविकल है क्योंकि घट न नित्य है और न अमूर्त्त ही है अतएव यह तीन साधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं। तात्पर्य यह है कि साधर्म्य दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों की सत्ता होनी चाहिए, किन्तु यहाँ ग्रहण किये दृष्टान्तों में वह नहीं है, अतएव ये दृष्टान्ताभास हैं ॥२३॥

सूत्रार्थ-वैधर्म्य से परमाणु कर्म और आकाश क्रमशः साध्याव्यतिरेकी साधनाव्यतिरेकी और उभयाव्यतिरेकी हैं ॥२४।

५३--शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त्त है, इसी पूर्वोक्त प्रयोग में परमाणु कर्म और आकाश ये व्यतिरेकदृष्टान्ताभास हैं 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त्त नहीं होता जैसे-'परमाणु' यहाँ 'परमाणु' साध्याव्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है क्योंकि परमाणु नित्य होते हैं। 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त्त नहीं होता जैसे कर्म', यहाँ 'कर्म' साधनाव्यतिरेकी है क्योंकि १कर्म अमूर्त्त है। 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त्त नहीं होता, जैसे आकाश। यहाँ आकाश उभयाव्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है, क्योंकि आकाश नित्य भी है और अमूर्त्त भी है। अतएव यह तीनों वैधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं। तात्पर्य यह है कि वैधर्म्य दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का अभाव होना चाहिए, किन्तु यहाँ अभाव नहीं है, अतएव ये वैधर्म्य दृष्टान्त कहे गए हैं। ॥२४॥

५४--इसी प्रकार (निम्न भी आभास हैं) सूत्रार्थ---'वचन' हेतु से राग सिद्ध करने में और 'राग' हेतु से मरणधर्मता तथा असर्वज्ञता सिद्ध करने में रथ्यापुरुष आदि दृष्टान्त संदिग्ध साध्यान्वयव्यतिरेकी, संदिग्धसाधनान्वयव्यतिरेकी और संदिग्ध-उभयव्यतिरेकी दृष्टान्ताभास हैं ॥२५॥

१वैशेषिकसम्मत कर्मपदार्थ।

५५-सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयान्वयाः सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेकाश्च त्रयस्त्रयो दृष्टान्ताभासा भवन्ति । के इत्याह-रथ्यापुरुषादयः' । कस्मिन् साध्ये? । 'रागे' 'मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः' च । कस्मादित्याह-'वचनात्' 'रागात्' च । तत्र सन्दिग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा विवक्षितः पुरुषविशेषो रागी वचनात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनधर्मान्वयो यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयधर्मान्वयो यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवदिति । एषु परचेतोवृत्तीनां दुरधिगमत्वेन साधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम् । तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेको यथा रागी वचनात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्या पुरुषवत् । एषु पूर्ववत् परचेतोवृत्तेर्दुरन्वयत्वाद्वैधर्म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥२५॥

५५-संदिग्धसाध्यान्वय, संदिग्धसाधनान्वय और संदिग्धसाध्यसाधनान्वय, संदिग्धसाध्यव्यतिरेक, संदिग्धसाधनव्यतिरेक और संदिग्धसाध्य-साधनव्यतिरेक, इस प्रकार तीन-तीन दृष्टान्ताभास संदेह के कारण होते हैं । ये दृष्टान्ताभास 'वचन' हेतु और 'राग' हेतु से राग तथा मरणधर्मता या किंचिज्ज्ञता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त रथ्यापुरुष आदि हैं । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं-

(१) संदिग्धसाध्यान्वय-अमुक पुरुष रागी है क्योंकि वक्ता है, जो वक्ता होता है वह रागी होता है' जैसे राहगीर पुरुष । (यहाँ राहगीर में राग का होना संदिग्ध है, क्योंकि दूसरे के चित्त की वृत्ति दुर्ज्ञेय होती है ।) (२) संदिग्धसाधनान्वय-यह पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि इसमें राग है, जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में साधन-राग का अस्तित्व संदिग्ध है ।) (३) संदिग्धसाध्यसाधनान्वय-यह पुरुष अल्पज्ञ है, क्योंकि रागवान् है. जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में अल्पज्ञता साध्य और रागवत्त्व साधन होना निश्चित नहीं है ।)

दूसरे की चित्तवृत्ति को समझना आसान नहीं है, अतएव राह चलते किसी पुरुष में राग और अल्पज्ञता का सत्त्व निश्चित नहीं होता है । (अन्वय दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का अस्तित्व निश्चित होना आवश्यक है । यहाँ उनका अस्तित्व निश्चित न होने से ये दृष्टान्ताभास हैं ।)

(१) संदिग्धसाध्यव्यतिरेक-यह पुरुष रागी है, क्योंकि बोलता है । जो रागी नहीं होता वह बोलता नहीं है, जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में रागीपन का अभाव निश्चित नहीं होता है व्यतिरेक दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का अभाव निश्चित होना चाहिए (२) संदिग्ध साधनव्यतिरेक--यह पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि रागी है, जो मरणधर्मा नहीं होता वह रागी नहीं होता, जैसे राहगीर । (यहाँ साधन का अभाव निश्चित नहीं होता है ।) (३) संदिग्ध उभयव्यतिरेक--यह पुरुष अल्पज्ञ है, क्योंकि रागी है, जो अल्पज्ञ नहीं होता वह रागी नहीं होता, जैसे राहगीर पुरुष । (यहाँ दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों ही संदिग्ध होने से दृष्टान्ताभास हैं ।

इन सब दृष्टान्तों में भी पूर्ववत् राग और अल्पज्ञता के अभाव का निश्चिय नहीं, क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति को जानना असान नहीं है । अतएव यह वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है ।)॥२५॥

५६-तथा-

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥२६॥

५७-'विपरीतान्वयः' विपरीतव्यतिरेकः' च दृष्टान्ताभासौ भवतः । तत्र विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनित्यमिति वक्तव्ये यदनित्यं तत् कृतकं यथा घट इत्याह | विपरीतव्यतिरेको यथा अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये कृतकत्वाभावे न भवत्येवानित्यत्वं यथाकाश इत्याह | साधनधर्मानुवादेन साध्यधर्मस्य विधानमित्यन्वयः | साध्यधर्मव्यावृत्त्यनुवादेन साधनधर्मव्यावृत्तिविधानमिति व्यतिरेकः। तयोरन्यथाभावे विपरीतत्वम् । यदाह—

"साध्यानुवादाल्लिङ्गस्य विपरीतान्वयो विधिः |
हेत्वभावे त्वसत्साध्यं व्यतिरेकविपर्यये ||" इति ॥२६॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥२७॥

५८-'अप्रदर्शितान्वयः 'अप्रदर्शितव्यतिरेक', च दृष्टान्ताभासौ । एतौ च प्रमाणस्यानुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सासर्वावधारणपदानामप्रयोगात्, सत्स्वपि तेष्वसति

५६-(और भी दृष्टान्ताभास हैं) तद्यथा-

सूत्रार्थ-विपरीतान्वय और विपरीतव्यतिरेक भी दृष्टान्ताभास हैं ॥२६॥

५७--साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव जहाँ प्रदर्शित किया जाता है वह अन्वय-दृष्टान्त कहलाता है । इससे विपरीत प्रयोग करना 'विपरीतान्वय' है और साध्य के अभाव में साधन का अभाव जहाँ प्रदर्शित किया जाय वह व्यतिरेकदृष्टान्त कहलाता है। इसके विपरीत प्रयोग करना विपरीतव्यतिरेक, दृष्टान्ताभास है । जैसे--शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है । यहाँ कहना तो ऐसा चाहिए कि-कृतक होता है वह अनित्य होता है, किन्तु इससे विपरीत कहना कि-जो अनित्य होता है वह कृतक होता है जैसे घट, यह विपरीतान्वय है ।

विपरीतव्यतिरेक, जैसे जो अनित्य नहीं होता वह कृतक नहीं होता, ऐसा कहना चाहिए किन्तु इससे विपरीत कहना-'जो कृतक नहीं होता वह अनित्य नहीं होता. जैसे आकाश । यह विपरीतव्यतिरेक है । कहा भी है-

साध्य का अनुवाद करके साधन का विधान करना विपरीतान्वय कहलाता है और साधन के अभाव में साध्य का अभाव प्रदर्शित करना विपरीतव्यतिरेक है ॥२६॥

सूत्रार्थ-अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक नामक भी दो दृष्टान्ताभास हैं ॥२७॥

५८—अन्वय को न दिखलाना और व्यतिरेक को न दिखलाना भी दृष्टान्ताभास हैं । ये दृष्टान्ताभास तर्कनामक व्याप्तिग्राहक प्रमाण के न दिखलाने पर होते हैं, वीप्सा, सर्व अथवा अवधारण पदों का प्रयोग न करने से नहीं होते । क्योंकि इन पदों के न होने पर भी प्रमाण यदि न हो तो अन्वय और व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती ।

प्रमाणे तयोरसिद्धेरिति । साध्यविकलसाधनविकलोभयविकलाः, सन्दिग्धसाध्यान्वय-सन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोभयान्वयाः, विपरीतान्वयः, अप्रदर्शितान्वयश्चेत्यष्टौ साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । साध्याव्यावृत्तसाधनाव्यावृत्तोभयाव्यावृत्ताः, सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्तिसन्दिग्धसाधनव्यावृत्तिसन्दिग्धोभयव्यावृत्तयः, विपरीतव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकश्चेत्यष्टावेव वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा भवन्ति।

५९–नन्वनन्वयाव्यतिरेकावपि कैश्चिद् दृष्टान्ताभासावुक्तौ, यथा रागादिमानयं वचनात् । अत्र साधर्म्यदृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, वैधर्म्यदृष्टान्ते चोपलखण्डे सत्यामपि सह निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव इत्यनन्वयाव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिह नोक्तौ?। उच्यते–ताभ्यां पूर्वे न भिद्यन्त इति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्येकमष्टावेव दृष्टान्ताभासा भवन्ति । यदाहुः–

तात्पर्य यह है-जो-जो कृतक होता है वह वह सब अनित्य ही होता है जैसे घट, जो जो अनित्य नहीं होता वह वह सब कृतक नहीं होता, जैसे आकाश । इस प्रकार व्याप्ति प्रदर्शित न किया जाय तो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास होते हैं । यहां जो जो इस प्रकार दो बार 'जो' शब्द का या 'सब' शब्द का या 'ही' शब्द का प्रयोग न करने से उक्त दोष नहीं होते ।

सब मिल कर अन्वय दृष्टान्ताभास और व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के आठ-आठ भेद इस प्रकार हैं-

अन्वयदृष्टान्ताभास—(१) साध्यविकलअन्वयदृष्टान्ताभास (२)साधन विकल अन्वयदृष्टान्ताभास (३)उभयविकलदृष्टान्ताभास (४)संदिग्धसाध्य अन्वयदृष्टान्ताभास (५)संदिग्धसाधन अ० (६)संदिग्धउभय अ० (७)विपरीतान्वय० (८)अप्रदर्शितान्वयदृष्टान्ताभास ।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभास—(१)साध्याव्यतिरेकी दृष्टान्ताभास (२)साधनाव्यतिरेकी (३)-उभयाव्यतिरेकी (४)संदिग्धसाध्यव्यतिरेकी (५)संदिग्धसाधनव्यतिरेकी (६) संदिग्ध उभयव्यतिरेकी (७)विपरीतव्यतिरेकी (८) और अप्रदर्शितव्यतिरेकी दृष्टान्ताभास ।

५९–प्रश्न-किन्हीं–किन्हीं आचार्यों ने अनन्वय और अव्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास भी बतलाए हैं । जैसे–'यह पुरुष रागादिमान् है, क्योंकि वक्ता है । यहाँ साधर्म्य दृष्टान्त आत्मा में राग और वचन दोनों का साथ–साथ अस्तित्व पाया जाता है और वैधर्म्यदृष्टान्त पाषाणखंड में दोनों का अभाव होता है–अर्थात् जो वक्ता होता है वह रागादिमान् होता है, जैसे–संसारी आत्मा और जो रागादिमान् नहीं होता वह वक्ता भी नहीं होता, जैसे पाषाणखंड । इस प्रकार साध्य और साधन की साथ-साथ सत्ता और असत्ता होने पर भी इनमें अन्वय और व्यतिरेक का वास्तव में अभाव है (क्योंकि किसी आत्मा में वक्तृत्व होने पर भी रागादि का अभाव होता है)। अतएव वचन और रागादि का निश्चित अविनाभाव न होने से अनन्वय और अव्यतिरेक दोष है । इन दोनों का आपने उल्लेख क्यों नहीं किया है ? उत्तर–पूर्वोक्त आठ भेद इनसे पृथक् नहीं हैं, अर्थात् वे अनन्वय और अव्यतिरेक ही हैं, अतएव इन दो को पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं रहती । इस प्रकार एक–एक दृष्टान्ताभास के आठ आठ ही भेद होते हैं , कहा भी है–

"लिङ्गस्यानन्वया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।
नान्यथानुपपन्नत्वं कथंचित् ख्यापयन्त्यमी ॥" इति ॥२७॥

६०–अवसितं परार्थानुमानमिदानीं तन्नान्तरीयकं दूषणं लक्षयति–

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥

६१–'साधनस्य' परार्थानुमानस्य ये असिद्धविरुद्धादयो 'दोषाः' पूर्वमुक्तास्तेषामुद्भाव्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति 'उद्भावनम्' साधनदोषोद्भावकं वचनं 'दूषणम्'। उत्तरत्राभूतग्रहणादिह भूतदोषोद्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

६२–दूषणलक्षणे दूषणाभासलक्षणं सुज्ञानमेव भेदप्रतिपादनार्थं तु तल्लक्षणमाह–

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥

६३–अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि 'दूषणाभासाः' । तानि च 'जात्युत्तराणि' । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वात् । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना

साधन के अनन्वय आठ हैं और अव्यतिरेक भी आठ ही हैं । यह आठ-आठ दृष्टान्ताभास कथंचित् अविनाभाव संबंध के अभाव को सूचित करते हैं ॥२७॥

६०-परार्थानुमान पूर्ण हुवा। अब परार्थानुमानसंबंधी दोष के स्वरूप का निरूपण करते हैं-

सूत्रार्थ--साधन के दोषों को प्रकाशित करना दूषण कहलाता है ॥२८॥

६१--साधन अर्थात् परार्थानुमान के जो असिद्धता विरुद्धता आदि दोष पहले बतलाए जा चुके हैं, उन दोषों को प्रकट करने वाला वचन 'दूषण' कहा जाता है । अगले सूत्र में 'अभूत, शब्द ही ग्रहण किया है, अतएव यहाँ भूत–सद्भूत विद्यमान दोषों को प्रकट करना दूषण है, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥२८॥

६२-दूषण का लक्षण समझ लेने पर दूषणाभास सहज ही समझा जा सकता है, किन्तु उसके भेदों का निरूपण करने के लिए लक्षण का प्रतिपादन करते हैं-

सूत्रार्थ—अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना जात्युत्तर है । वही दूषणाभास है ॥२९॥

६३–जो वास्तव में दूषण न हो किन्तु दूषण जैसे प्रतिभासित हो वह दूषणाभास कहलाता है । उसे जात्युत्तर भी कहते हैं । तात्पर्य यह है कि साधन में दोष न होने पर भी दोष का आरोप करना दूषणाभास है ।

जात्युत्तर पद में 'जाति, शब्द सदृशता का वाचक है अतः जो उत्तर के सदृश हों वे 'जात्युत्तर, कहलाते हैं । उत्तर के स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण वे उत्तर के समान होते अथवा जाति अर्थात् सदृशता के कारण जो उत्तर रूप समझे जायँ उन्हें जात्युत्तर समझना चाहिए ।

वादी ने समीचीन हेतु अथवा हेत्वाभास का प्रयोग किया । प्रतिवादी को जल्दी में कोई वास्तविक दोष उसमें नहीं सूझा । तब वह हेतुसरीखे प्रतीत होने वाला कुछ भी अंटसंट प्रयोग

प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमरूपतया चतुर्विंशतिरुपदर्श्यन्ते ।

६४-तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्--नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति १ । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते-नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति २ । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्त-

---

करके वादो के हेतु का निरसन करता है । निरसन के ये प्रकार अगणित हैं । उनकी कोई नियत संख्या नहीं हो सकती । फिर भी नैयायिक शास्त्र में प्रदर्शित दिशा के अनुसार जात्युत्तर या जातियाँ चौवीस हैं । वे यहाँ भी दिखलाई जाती हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) साधर्म्यसमा (२) वैधर्म्यसमा (३) उत्कर्षसमा (४) अपकर्षसमा (५) वर्ण्यसमा (६) अवर्ण्यसमा (७) विकल्पसमा (८) साध्यसमा (९) प्राप्तिसमा (१०) अप्राप्तिसमा (११) प्रसंगसमा (१२) प्रतिदृष्टान्तसमा (१३) अनुत्पत्तिसमा (१४) संशयसमा (१५) प्रकरणसमा (१६) अहेतुसमा (१७) अर्थापत्तिसमा (१८) अविशेषसमा (१९) उपपत्तिसमा (२०) उपलब्धिसमा (२१) अनुपलब्धिसमा (२२) नित्यसमा (२३) अनित्यसमा और (२४) कार्यसमा ।

६४ (१) साधर्म्यसमा-साधर्म्य दिखलाकर वादी के साधन का निरास करना साधर्म्यसमा जाति है । जैसे-शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, घट के समान । वादी के द्वारा ऐसा प्रयोग करने पर साधर्म्यप्रयोग के द्वारा ही उसका निरास करना, यथा-शब्द नित्य है क्योंकि निरवयव है, जैसे-आकाश । कोई कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य हो तो आकाश के समान निरवयव होने से नित्य न हो !

(२) वैधर्म्यसमा-विसदृशता दिखा कर निरास करना वैधर्म्यसमा जाति है । यथा-शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे-घट, ऐसा प्रयोग करने पर वही विरोधी हेतु प्रयुक्त करना-शब्द नित्य है, क्योंकि निरवयव है । जो अनित्य होता है वह सावयव देखा जाता है, जैसे-घटादि, कोई विशेष कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से यदि शब्द अनित्य है तो घट से विपरीत निरवयव होने से नित्य न हो ।

(३) उत्कर्षसमा-उत्कर्ष (अधिकता) दिखला कर हेतु का निरास करना उत्कर्षसमा-जाति है । पहले वाले प्रयोग में ही दृष्टान्त (सपक्ष) के किसी धर्म को पक्ष में आपादन करने

धर्मं कश्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते–यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति ४। वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यः। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते–यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग्घटधर्मो यादृग्घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति ५–६। धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्यादि, किञ्चित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादि किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति ७। साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं सध्यसमा जातिः। यथा–यदि यथा घटस्तथा शब्दः, प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति। शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवतु। ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति ८। प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां

वाला उत्कर्षसमाजाति का प्रयोग करता है। यथा-यदि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो घट के समान मूर्त्त भी होना चाहिए। ऐसा कह कर शब्द में एक दूसरे धर्म (मूर्त्तत्व) की अधिकता का आपादन करता है।

(४) अपकर्षसमा–अपकर्ष अर्थात् न्यूनता दिखाकर निरास करना। जैसे–घट कृतक होता हुआ अश्रावण है तो इसी प्रकार शब्द भी अश्रावण होना चाहिए। यदि घट के समान अश्रावण नहीं है तो घट के समान अनित्य भी नहीं होना चाहिए। ऐसा कह कर शब्द के श्रावणत्व धर्म का अपकर्ष करता है।

(५–६) वर्ण्यसमा—अवर्ण्यसमा—वर्ण्य और अवर्ण्य के द्वारा निरास करना वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जातियाँ हैं। सिद्ध करने योग्य साध्यधर्म वर्ण्य कहलाता है और दृष्टान्त का धर्म अवर्ण्य कहलाता है। इस साध्य और दृष्टान्त के धर्मों को उलटपलट करने वाला वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति का प्रयोग करता है। यथा–जिस प्रकार का कृतकत्व शब्द का धर्म है, उस प्रकार का घट का धर्म नहीं है और जैसा घट का धर्म है वैसा शब्द का धर्म नहीं है।

(७) विकल्पसमा–धर्मान्तर का विकल्प करके निरास करना विकल्पसमा जाति है। यथा–कृतक पदार्थ कोई-कोई मृदु देखा जाता है, जैसे–रांकव (मृगचर्म की) शय्या और कोई-कोई कठिन होता है जैसे–कुठार आदि। इसी प्रकार कोई कृतक पदार्थ अनित्य भी होंगे। जैसे-घट आदि और कोई नित्य होंगे, जैसे शब्द आदि।

(८) साध्यसमा–साध्य के साथ समानता दिखलाकर निरास करना साध्यसमा जाति है। यथा–यदि जैसा घट है वैसा ही शब्द है तो इसका अर्थ यह हुआ कि जैसा शब्द है वैसा ही घट है। इस प्रकार जब दोनों सरीखे हैं तब शब्द साध्य है तो घट भी साध्य होना चाहिए और जब दोनों ही साध्य हैं तो एक साध्य दूसरे साध्य का दृष्टान्त किस प्रकार हो सकता है? यदि दोनों में समानता नहीं है तो दोनों एक दूसरे से विलक्षण होंगे और ऐसी स्थिति में घट दृष्टान्त नहीं हो सकता!

प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती । यथा यदेतत् कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा ? । प्राप्य चेत्; द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति, न सदसतोरिति । द्वयोश्च सत्त्वात् किं कस्य साध्यं साधनं वा ?९ । अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति १० । अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः । यथा यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्व इदानीं किं साधनम् ? । तत्साधनेऽपि किं साधनमिति ? ११ । प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह–यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति । न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनम्, भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः । यथा अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते ?। तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३

(९–१०) प्राप्तिसमा–अप्राप्तिसमा–प्राप्ति और अप्राप्ति का विकल्प खड़ा करके हेतु का निरास करना प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जातियाँ हैं । यथा–आपने कृतकत्व हेतु का जो प्रयोग किया है सो वह साध्य को प्राप्त करके साधता है या बिना प्राप्त किये ही ? यदि प्राप्त करके साधता है, ऐसा कहो तो प्राप्ति तो दो विद्यमान पदार्थों की ही होती है–एक विद्यमान हो और दूसरा अविद्यमान हो तो प्राप्ति नहीं होती, और जब दोनों विद्यमान हैं तो कौन किसका साधन होगा ? अगर कहो कि कृतकत्व हेतु साध्य को प्राप्त किये बिना ही सिद्ध करता है तो यह कथन अनुचित है । प्राप्त किये बिना कोई किसी को साध नहीं सकता ।

(११) प्रसंगसमा–अतिप्रसंग का आपादन करके निरास करना । जैसे–यदि शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु प्रयोग करते हो तो कृतकत्व को सिद्ध करने के लिए क्या हेतु है ? और उस हेतु को सिद्ध करने के लिए भी कौन-से हेतु का प्रयोग करते हो ?

(१२) प्रतिदृष्टान्तसमा–विरोधी दृष्टान्त के द्वारा निरास करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है । यथा-शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नजनित है, जैसे–घट; इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी कहता है–जैसे–घट प्रयत्नजनित होने से अनित्य देखा जाता है, उसी प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त आकाश नित्य होते हुए भी प्रयत्नजनित देखा जाता है, क्योंकि कूप खोदने के प्रयत्न के पश्चात् आकाश का उपलंभ होता है ! यह हेतु में अनैकान्तिक दोष का उद्भवन करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका तरीका दूसरा होता है और यह दोष दूसरे तरीके से प्रकट किया गया है ।

(१३) अनुत्पत्तिसमा–अनुत्पत्ति दिखा कर निरास करना । जैसे–जब शब्द धर्मी उत्पन्न नहीं होता तब कृतकत्व कहाँ रहता है ? अर्थात् वह होता ही नहीं । इस प्रकार हेतु का अभाव होने से अनित्यत्व साध्य की सिद्धि नहीं होती ।

साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति। यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वान्नित्य इति? १४। द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति। तत्रैव अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे–नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् १५। त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः। यथा हेतुः साधनम्। तत् साध्यात्पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत्?। यदि पूर्वम्; असति साध्ये तत् कस्य साधनम्?। अथ पश्चात्साधनम्; पूर्वं तर्हि साध्यम्, तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन?। अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६। अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः। यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति। अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७। अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा

(१४) संशयसमा–पहले जो साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति कही है, उसका उपसंहार यदि संशय के रूप में हो तो संशयसमा जाति कहलाती है। यथा–घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है या घट के विलक्षण आकाश के समान निरवयव होने से नित्य है;

(१५) प्रकरणसमा– दूसरे पक्ष को खड़ा करने की बुद्धि से प्रयोग में लाई जाने वाली वही साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति प्रकरणसमा कहलाती है। यथा–शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे--घट। इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है---शब्द नित्य है, क्योंकि श्रावण है, जैसे–शब्दत्व। यद्यपि बात वही है फिर भी दोषोद्भावन के तरीके में भेद होने से इस जाति को भिन्न कहा है।

(१६) अहेतुसमा–हेतु को त्रैकालिक अनुपपत्ति (असंगति) प्रदर्शित कर के निरसन करना। यथा–हेतु का मतलब साधन है। वह साधन साध्य से पहले होगा, पश्चात् होगा अथवा साथ-साथ होगा? यदि पहले होना कहो तो साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? (जब साध्य ही नहीं तो साधन कैसा?) अगर साधन पश्चात् होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि साध्य, साधन से पहले ही विद्यमान है तो साधन की आवश्यकता ही क्या है? कदाचित् साध्य और साधन का साथ-साथ होना माना जाय तो गाय के दाहिने और बांये सींगों के समान साथ-साथ होने वाले दो पदार्थों में साध्य-साधनभाव कैसे हो सकता है?

(१७) अर्थापत्तिसमा- अर्थापत्ति द्वारा निराकरणकरना अर्थापत्तिसमा जाति है। यथा यदि अनित्य के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि नित्य के समान होने से नित्य है। शब्द की नित्य आकाश से निरवयत्वधर्म के लिहाज से समानता तो है ही! यहाँ भी उद्भावना के प्रकार में ही भिन्नता है।

१८–अविशेषसमा–विशेषता का अभाव कह कर निरास करना। जैसे–यदि शब्द और

जातिः। यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति १८। उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः। यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ?। पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९। उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते–न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्; साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम्। शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २०। अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः। यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी–न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते। आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत्; न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावात्। आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः। तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति।

घट का एक ही धर्म कृतकत्व मानते हो तो समान धर्म होने से दोनों में कोई विशेषता नहीं होगी और जैसे इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है वैसे सभी पदार्थों में विशेषता का अभाव हो जायगा।

१९–उपपत्तिसमा- उपपत्ति के द्वारा निराकरण करना उपपत्तिसमा जाति है। यथा–यदि कृतकत्व की उपपत्ति से शब्द अनित्य है तो निरवयवत्व की उपपत्ति से नित्य क्यों नहीं है! यहाँ नित्यता और अनित्यता दोनों पक्षों की उपपत्ति होने से अनध्यवसाय (अनिश्चय) में पर्यवसान होना विवक्षित है। इस प्रकार उद्भावना के प्रकार में ही भेद समझना चाहिए।

२०–उपलब्धिसमा–उपलब्धि के द्वारा निराकरण करना जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है, ऐसा वादी के कहने पर जातिवादी कहता है–प्रयत्नजन्यता अनित्यत्व सिद्ध करने में साधन नहीं है। साधन वही कहलाता है जिसके बिना साध्य की उपलब्धि न हो सके मगर विद्युत् आदि में अनित्यता तो प्रयत्नजन्यता के बिना भी उपलब्ध होती है। इसी प्रकार वायु के वेग से टूटने वाली वनस्पति आदि से उत्पन्न शब्द में भी वह प्रयत्नजन्यता के बिना ही पाई जाती है।

२१–अनुपलब्धिसमा-अनुपलब्धि बताकर निरास करना अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे -पूर्ववत् प्रयत्नजन्यत्व हेतु का प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है–शब्द प्रयत्न का कार्य नहीं है, वह तो उच्चारण करने से पहले भी विद्यमान रहता है, मगर आवरण के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती। कदाचित् कहा जाय कि आवरण की उपलब्धि न होने पर भी शब्द का अनुपलंभ होता है, इस कारण शब्द (उच्चारण से पहले) नहीं होता, सो ठीक नहीं, क्योंकि, आवरण का उपलंभ न होने पर भी शब्द का अनुपलंभ हो सकता है। आवरण की अनुपलब्धि का अनुपलंभ होने से अभाव होता है। उसके अभाव में आवरण की उपलब्धि होती है। अत–

ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नाकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति २१। साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति-येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति ?। यद्यनित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः। अथानित्यता नित्यैव; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः शब्द इति २२। सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः। यथा घटेन साधर्म्यमनित्येन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात्। अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वम्; तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति। अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः २३। प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयक-

एव मिट्टी में दबे हुए मूल या कील के समान उच्चारण से पहले शब्द की अनुपलब्धि आवरणोपलब्धिकृत ही है। इस प्रकार शब्द प्रयत्न का कार्य न होने से नित्य है।

(२२) नित्यसमा-साध्यधर्म में नित्यता और अनित्यता का विकल्प करके शब्द की नित्यता का आपादन करना नित्यसमा जाति है। यथा- 'शब्द अनित्य है' इस प्रकार प्रतिज्ञा का प्रयोग करने पर जातिवादी विकल्प करता है-आप शब्द की जो अनित्यता कहते हो सो वह अनित्यता अनित्य है या नित्य? यदि अनित्य है तो अवश्य ही नष्ट होने वाली है और अनित्यता जब नाशशील है तो शब्द नित्य होगा। अगर शब्द की अनित्यता नित्य है तो धर्म नित्य होने से धर्मी भी नित्य होना चाहिए क्योंकि धर्मी के विना निराधार धर्म रह नहीं सकता। यदि शब्द अनित्य होता तो उसका धर्म (अनित्यत्व) नित्य नहीं हो सकता था। इस प्रकार दोनों तरह से शब्द की नित्यता ही सिद्ध होती है।

(२३) अनित्यसमा-सर्व भावों की अनित्यता का आपादन करके हेतु का निरास करना अनित्यसमा जाति है। यथा-यदि अनित्य घट के साथ समानता होने के कारण शब्द को अनित्य कहते हो तो किसी न किसी अंश में सभी पदार्थ घट के समान हैं[१], अतः सभी पदार्थ अनित्य हो जाने चाहिए। यदि अनित्य घट के साथ समानता होने पर भी अन्य पदार्थ (आत्मा आकाश आदि) अनित्य नहीं हैं तो शब्द भी अनित्य नहीं होना चाहिए।

पूर्वोक्त (१८वीं) अविशेषसमा जाति में सब पदार्थों में सामान्यतया विशेषता का अभाव प्रतिपादन किया गया है। यहाँ सब पदार्थों में अनित्यता की समानता का प्रतिपादन किया गया है।

(२४) कार्यसमा-प्रयत्न के कार्यों का नानापन कह कर हेतु का निरास करना कार्यसमा जाति है। यथा-शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नजन्य है, इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी

१-सत्त्व आदि सामान्य धर्मों की समानता तो है ही।

त्वादित्युक्ते जातिवाद्याह प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्–किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति। संशयापादनप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते २४।

६५–तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते दर्शिताः। प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरीक्षणमेव। न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति। कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृढप्रतिबन्धत्वान्नावरणादिकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव। जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं न प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्य प्रसङ्गादिति।

६६–छलमपि च सम्यगुत्तरत्वाभावाज्जात्युत्तरमेव। उक्तं ह्येतदुद्भावनप्रकारभेदेनानन्तानि जात्युत्तराणीति। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातश्छलम्। तत्त्रिधा वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे

कहता है–प्रयत्न के दो रूप दिखाई देते हैं। प्रथम यह कि प्रयत्न किसी असत् पदार्थ को उत्पन्न करता है, जैसे घट को। दूसरा रूप यह है कि प्रयत्न के द्वारा आवरण हट जाने से सत् पदार्थ प्रकट हो जाता है, जैसे मिट्टी से दबे हुए मूल कील आदि। इस प्रकार जब प्रयत्न के कार्य नाना हैं तो संशय उत्पन्न होता है कि प्रयत्न के द्वारा शब्द व्यक्त किया जाता है अथवा उत्पन्न किया जाता है?

संशयसमा और कार्यसमा जाति में संशय का आपादन करने में भेद है, अतएव कार्यसमा जाति उससे भिन्न है।

इस प्रकार (असत् दोष की) उद्भावना के विषय और विकल्प के भेद से जातियाँ अनन्त हैं फिर भी उनके पृथक् उदाहरणों की विवक्षा करके चौवीस भेद यहाँ दिखलाए गए हैं। इन सभी जातियों का प्रतिसमाधान अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु के लक्षण की परीक्षा करना ही है। अन्यथानुपपत्ति लक्षण से युक्त हेतु का प्रयोग किया जाय तो उस पर इस तरह की धूल नहीं डाली जा सकती। कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्व में निश्चित अविनाभाव संबंध है, अतएव शब्द की अनुपलब्धि आवरण के कारण नहीं वरन् अनित्यत्व के कारण ही होती है।

प्रतिवादी यदि जाति का प्रयोग करे तो वादी को समीचीन उत्तर ही देना चाहिए; असत् उत्तर देकर ही उसका प्रत्यवस्थान नहीं करना चाहिए। जाति प्रयोग के बदले में जाति प्रयोग करने से असमंजस हो जाता है।

छलनिरूपण सम्यक् रूप न होने से छल भी जात्युत्तर ही है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उद्भावना के प्रकारों में अन्तर होने से जातियाँ अनन्त हैं। किसी वादी के वचन में अर्थ का विकल्प उत्पन्न करके उसके वचन का विघात(खण्डन) करना छल कहलाता है। छल तीन प्रकार के हैं–(१)वाक्छल (२)सामान्यछल और (३)उपचारछल।

प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया किथिते परः सङ्ख्यामारोप्य निषेधति–कुतोऽस्य नव कम्बला इति? । सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति–सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति । तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, व्रात्येऽपि सा भवेत् व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानमुपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते –कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति? मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदत्र छलत्रयेऽपि वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

---

(१) वाक्छल–वक्ता ने किसी साधारण–जिसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है, शब्द का प्रयोग किया । प्रतिवादी उसके अभीष्ट अर्थ को छोड कर दूसरे अर्थ की कल्पना करके उसके वचन का खंडन करता है । यह वाक्छल है । जैसे–किसी ने कहा–'यह बालक नवकम्बल है ।' कहने वाले का अभिप्राय यह था कि इस बालक के पास नव–नवीन कम्बल है, किन्तु प्रतिवादी 'नव' शब्द में संख्या का आरोप करके कहता है–कहाँ हैं इसके पास नौ कम्बल ? ऐसा कहना वाक्छल है ।

(२) सामान्यछल–संभावना के आधार पर व्यभिचरित सामान्य का कथन करने पर प्रतिवादी यदि उस कथन को हेतु मान लेता है और उस कथन का निषेध करता है तो वह सामान्य छल कहलाता है । यथा 'वाह, यह ब्राह्मण है विद्या और आचरण से सम्पन्न! इस प्रकार ब्राह्मण की प्रशंसा के प्रसंग में कोई कहता है–ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति हो सकती हैं । तब छलवादी ब्राह्मणत्व को हेतु मानकर पूर्वोक्त कथन का निराकरण करता हुआ कहता है–यदि ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति हो सकती हैं तो व्रात्य में भी होनी चाहिए । व्रात्य भी तो ब्राह्मण ही है !

तात्पर्य यह है कि यहाँ ब्राह्मण होने के कारण विद्या और आचरण के होने की संभावना मात्र की गई थी मगर छलवादी ने ब्राह्मणत्व को हेतु मान लिया अर्थात् यह पुरुष विद्या और सदाचार से सम्पन्न है, क्योंकि ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण होते हैं वे विद्या और सदाचार से सम्पन्न होते हैं । इस प्रकार की कल्पना कर ली और इसी कल्पना के आधार पर वादी के कथन में व्रात्य से व्यभिचार बतलाया । यही सामान्यछल कहलाता है ।

(३) उपचारछल–उपचरित प्रयोग करने पर उसे मुख्य प्रयोग मानना और उसका निषेध करना उपचारछल है । यथा -'मञ्चाः क्रोशन्ति-माँचे शोर करते हैं' इस प्रकार उपचार से कहने पर छलवादी कहता है-अचेतन मांचे कैसे शोर कर सकते हैं ? मंचस्थ पुरुष शोर कर रहे हैं । यह उपचार छल है । इन तीनों छलों का समाधान वृद्ध जनों के व्यवहार से प्रसिद्ध शब्दसामर्थ्य की परीक्षा करना ही है ॥२९॥

६७–साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह—

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥३०॥

६८–स्वपक्षसिद्धये वादिनः 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो 'दूषणम्'। प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय वादिनो 'दूषणम्' तदेवं वादिनः साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् 'वदनम्' अभिधानम् 'वादः'। कथमित्याह–'प्राश्निकादिसमक्षम्'। प्राश्निकाः सभ्याः–

"स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्सिताः क्षमिणः।
वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः"

इत्येवंलक्षणाः। 'आदि' ग्रहणेन सभापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेयं चतुरङ्गा कथा एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः। नहि वर्णाश्रमपालनक्षमं न्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितत्वेन समदृष्टिं सभापतिं यथोक्तलक्षणांश्च प्राश्निकान् विना वादिप्रतिवादिनौ स्वाभिमतसाधनदूषणसरणिमाराधयितुं क्षमौ। नापि दुःशिक्षितकुतर्कलेशवाचालबालिशजनविप्लावितो गतानुगतिको जनः सन्मार्गं प्रतिपद्येतेति। तस्य फलमाह–'तत्त्वसंरक्षणार्थम्'। 'तत्त्व' शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती गृह्यते, तस्य रक्षणं दुर्विदग्धजनजनितविकल्पकल्पनात इति।

६७—साधन और दूषण का प्रयोग प्रायः वाद में ही किया जाता है, अतः वाद के लक्षण का निरूपण करते हैं--सूत्रार्थ–तत्त्व का संरक्षण करने के लिए सभ्यों आदि के समक्ष साधन और दूषण का कथन करना वाद है ॥३०॥

६८—वादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए साधन का प्रयोग करता है और प्रतिपक्ष का निषेध करने के लिए दूषण का प्रयोग करता है। प्रतिवादी भी इसी प्रकार साधन और दूषण का प्रयोग करता है। यही वाद कहलाता है। किन्तु यह साधन-दूषणप्रयोग सभ्यों आदि के समक्ष होता है। सूत्र में प्रयुक्त 'प्राश्निक, शब्द का अर्थ 'सभ्य' है। सभ्य इस प्रकार होने चाहिए-

स्व-पर सिद्धान्त के ज्ञाता, कुलीन, दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकृत, क्षमावान्, वाद पक्ष में निपुण और तुला के समान निष्पक्ष न्याय करने वाले प्राश्निक कहे गए हैं।

सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से सभापति वादी और प्रतिवादी का ग्रहण होता है। जहाँ यह चारों होते हैं वह चतुरंग कथा कहलाती है। इनमें से एक भी अंग की कमी होने पर कथा (वाद) नहीं हो सकती। वर्णाश्रम के पालन में समर्थ, न्याय-अन्याय की व्यवस्था करने वाले और निष्पक्ष होने से समदृष्टि सभापति के विना और पूर्वोक्त लक्षणों से सम्पन्न प्राश्निकों के बिना वादी और प्रतिवादी स्वाभिमत साधन–दूषण की प्रणाली का अवलम्बन नहीं कर सकते। और न दुःशिक्षित, थोडा सा कुतर्क सीख कर वाचाल बने हुए मूढ लोगों द्वारा बरगलाए, लकीर के फकीर लोग सन्मार्ग को अंगीकार कर सकते हैं। वाद का फल है तत्त्व का संरक्षण करना। यहाँ 'तत्त्व' शब्द से उस तत्त्वनिश्चय को समझना चाहिए जो भद्र पुरुषों के चित्त में अन्यथा भासित

६९–ननु तत्त्वरक्षणं जल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम् । यदाह–"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखापरिचरणवत्(न्यायसू० ४ २.५०) इति ; न. वादस्यापि निग्रहस्थानवत्त्वेन तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम् । "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (न्यायसू० १, २, १) इति वादलक्षणे सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोपपन्न इत्यनेन न्यूनाधिकयोर्हेत्वाभासपञ्चकस्य चेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुज्ञानात्, तेषां च निग्रहस्थानान्तरोपलक्षणत्वात् । अत एव न जल्पवितण्डे कथे, वादस्यैव तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् ।

७०–ननु "यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः"(न्या १. २, २) "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा" (न्या १, २, ३) इति लक्षणे भेदाज्जल्पवितण्डे अपि कथे विद्येते एव? न; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डायाः कथात्वायोगात् । वैतण्डिको हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किंचिद्वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमवधेयवचनः? । जल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः साधनोपालम्भसम्भावनया

होने लगा हो । अपने आपको पण्डित मानने वाले लोगों के द्वारा उत्पन्न किये गये विकल्पों की कल्पना से उसकी रक्षा करना ही वाद का प्रयोजन है (कीर्ति या अर्थलाभ आदि नहीं ।)

६९–शंका–तत्त्व की रक्षा करना जल्प या वितण्ड का प्रयोजन है । न्यायसूत्र में कहा है–जैसे धान्य के अंकुरों की रक्षा के लिए कांटों की वाड खेत के चारों तरफ लगाई जाती है. उसी प्रकार तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का उपयोग किया जाता है । समाधान-ऐसा कहना ठीक नहीं । वाद का प्रयोजन भी तत्त्वसंरक्षण करना है, क्योंकि वह भी निग्रहस्थान वाला होता है । वाद निग्रहस्थान वाला होता है, यह असिद्ध नहीं है । न्यायसूत्र में वाद का लक्षण यों दिया है–'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।' वाद के इस लक्षण में 'सिद्धान्ताविरुद्ध' इस पद से अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान को, 'पंचावयवोपपन्नः' इस पद से न्यून और अधिक निग्रहस्थानों को और पाँच प्रकार के हेत्वाभासों को, इस प्रकार आठ निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है । यह आठ निग्रहस्थान दूसरे शेष निग्रहस्थानों के उपलक्षण हैं । अतएव जल्प और वितण्डा कथा नहीं हैं, केवल वाद ही तत्त्व के संरक्षण के लिए होता है ।

७०–शंका–जिसमें छल, जाति, निग्रहस्थान, साधन और दूषण का प्रयोग हो वह जल्प कहलाता है । वही जल्प जब प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित हो तो वितण्डा कहलाता है । इस प्रकार जल्प और वितण्डा का लक्षण अलग-अलग है, अतः ये दोनों भी कथाएँ ही हैं । समाधान-प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित वितण्डा को कथा नहीं कहा जा सकता । वितण्डावादी अपने पक्ष को स्वीकार करके भी उसे सिद्ध नहीं करता, वह यद्वा तद्वा बोलकर केवल परपक्ष को ही दूषित करता है । अतएव उसका कथन उपादेय कैसे हो सकता है? हाँ, जल्प में वादी और प्रति-

कथात्वं लभते तथापि न वादादर्थान्तरम्, वादेनैव चरितार्थत्वात् । छलजातिनिग्रहस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थ इति चेत्; न, छलजातिप्रयोगस्य दूषणाभासत्वेनाप्रयोज्यत्वात्, निग्रहस्थानानां च वादेप्यविरुद्धत्वात् न खलु खटचपेटामुखबन्धादयोऽनुचिता निग्रहा जल्पेऽप्युपयुज्यन्ते । उचितानां च निग्रहस्थानानां वादेऽपि न विरोधोऽस्ति । तन्न वादात् जल्पस्य कश्चिद् विशेषोऽस्ति । लाभपूजाख्यातिकामितादीनि तु प्रयोजनानि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलानुबन्धीनि पुरुषधर्मत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते ।

७१–ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुत्तरत्वाद्वादे न भवति, जल्पे तु तस्यानुज्ञानादस्ति वादजल्पयोर्विशेषः । यदाह–

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ।।
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः"।। इति (न्या.म.पृ.११)

वादी दोनों स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण करते हैं इस कारण वह कथा तो अवश्य है परन्तु वाद से भिन्न नहीं है । उसका समावेश वाद में ही हो जाता है ।

शंका--जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान की प्रचुरता रहती है, इस कारण उसका वाद में समावेश नहीं हो सकता, समाधान–नहीं । छल और जाति वस्तुतः दूषणाभास हैं । अतएव उनके प्रयोगमात्र से जल्प को वाद से पृथक् नहीं किया जा सकता । रह गए निग्रहस्थान, सो उनका प्रयोग तो वाद में भी किया जा सकता है ।

निग्रह दो प्रकार के होते हैं–अनुचित और उचित । थप्पड मारना, प्रतिवादी का मुंह बंद कर देना आदि अनुचित निग्रह हैं । जल्प में भी इनका प्रयोग नहीं किया जाता है । उचित निग्रहस्थानों का प्रयोग वाद में भी होता ही है । इस कारण वाद और जल्प में कोई विशेषता नहीं है, जिससे दोनों को पृथक् पृथक् कथा स्वीकार किया जाए ।

लाभ, पूजा अथवा ख्याति की कामना आदि प्रयोजन तत्त्वनिश्चय के संरक्षण रूप प्रधान फल के अनुजीवी हैं । ये पुरुष के धर्म हैं । अतएव वाद में भी इन्हें रोका नहीं जा सकता । तात्पर्य यह है कि लाभ आदि प्रयोजन जल्प में होते हों और वाद में न होते हों, ऐसी बात नहीं है । अतएव इस आधार पर भी दोनों में भेद नहीं किया जा सकता ।

७१–शंका–छल और जाति का प्रयोग असत् उत्तर होने के कारण वाद में नहीं किया जा सकता, किन्तु जल्प में उनके प्रयोग की अनुमति दी गई है । इस कारण वाद और जल्प में भेद है । कहा भी है–

'जिन्होंने दुःशिक्षा पाई है, जो थोड़ा-सा कुतर्क का अंश सीख कर वाचाल बने हुए हैं और वितण्डा के आडम्बर से युक्त हैं, वे क्या अन्यथा अर्थात् छल जाति आदि के विना जीते जा सकते हैं? कदापि नहीं ।'

नैवम् । असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात्; न ह्यन्यायेन जयं यशो धनं वा महात्मानः समीहन्ते । अथ प्रबलप्रतिवादिदर्शनात् तज्जये धर्मध्वंससम्भावनात्,प्रतिभाक्षयेण सम्यगुत्तरस्याप्रतिभासादसदुत्तरैरपि पांशुभिरिवावकिरन्नेकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति धिया न दोषमावहतीति चेत्; न, अस्यापवादिकस्य जात्युत्तरप्रयोगस्य कथान्तरसमर्थनसामर्थ्याभावात् । वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण यद्यसदुत्तरं कथंचन प्रयुञ्जीत किमेतावता कथान्तरं प्रसज्येत ? । तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः कथाप्रथां लभत इति स्थितम् ॥३०॥

७२–वादश्च जयपराजयावसानो भवतीति जयपराजययोर्लक्षणमाह–

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥३१॥

७३–वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः । सा च स्वपक्षसाधनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्भावनेन च भवति । स्वपक्षे साधनमब्रुवन्नपि प्रतिवादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिनं जयति,विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्षे

'साधारण जन गतानुगतिक होते हैं—भेड़चाल से चलते हैं । वे ऐसे लोगों के बहकाव में आकर कुमार्ग पर न चले जाएँ, इस हेतु से दयालु मुनि–अक्षपाद ऋषि–ने छल आदि का उपदेश दिया है ।'

समाधान—ऐसा न कहो । असत् उत्तरों से परपक्ष का निराकरण करना उचित नहीं है । महात्मा पुरुष अन्याय के द्वारा विजय, यश या धन प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते ।

शंका–कहीं प्रतिवादी प्रबल दिखाई दे और उसके विजयी होने से धर्म के ध्वंस की संभावना हो या प्रतिभा मारी जाय और इस कारण सम्यक् उत्तर नहीं सूझ रहा हो तो धूल बिखेरने के समान असत् उत्तरों का ही प्रयोग करना ठीक है । एकान्त पराजय से तो जय-पराजय संबंधी सन्देह रह जाना ही अच्छा है । इस दृष्टिकोण से छल आदि के प्रयोग में कोई दोष नहीं है । समाधान–नहीं । ऐसा जातिप्रयोग अपवादरूप है–कोई सामान्य विधान नहीं । अतएव इसके आधार पर एक पृथक् प्रकार की कथा का समर्थन नहीं किया जा सकता । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कदाचित् वाद में ही असत् उत्तर का प्रयोग कर दिया जाय तो क्या इतने मात्र से ही वह कथा अलग प्रकार की हो जाएगी ? अतएव जल्प और वितण्डा को छोड़ कर एक मात्र वाद ही कथा कहलाने के योग्य है । यह सिद्धान्त प्रमाणित हुआ ॥३०॥

७२–जय और पराजय होने पर वाद का अन्त हो जाता है, अतएव जय और पराजय का लक्षण कहते हैं–सूत्रार्थ–अपने पक्ष की सिद्धि हो जाना जय है ॥३१॥

७३–वादी अथवा प्रतिवादी का अपना जो पक्ष है, उसकी सिद्धि हो जाना ही उसकी जय है । स्वपक्ष की सिद्धि तब होती है जब अपने पक्ष के साधन में प्रतिवादीद्वारा उद्भावित दोषों का परिहार कर दिया जाय और विरोधी पक्ष के साधन में दोष का उद्भावन किया जाय । हाँ, प्रतिवादी यदि वादी के साधन में विरुद्धता दोष का उद्भावन करे तो वह अपने पक्ष की सिद्धि में साधन का प्रयोग किये विना भी वादी पर विजय प्राप्त कर लेता है । परपक्ष में विरु-

साधनस्योक्तत्वात् । यदाह–"विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः" इति ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥३२॥

७४–वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य 'असिद्धिः' सा 'पराजयः' । सा च साधनाभासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्धरणाद्भवति ॥३२॥

७५–ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीदृशो निग्रहः ?, निग्रहान्ता हि कथा भवतीत्याह–

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥३३॥

७६–'स' पराजय एव 'वादिप्रतिवादिनोः' 'निग्रहः' न वधबन्धादिः । अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपः पराजयो निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो नान्यो यथाहुः परे-'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" (न्यायसू० १. २. १९) इति ॥३३॥

७७--तत्राह--

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥३४॥

७८–विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः 'विप्रतिपत्तिः'–साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः । स च

द्धता का उद्भावन करना ही एक प्रकार से स्वपक्ष में साधन का प्रयोग करना है। कहा भी है–'विरुद्ध हेतु का उद्भावन करके प्रतिवादी वादी को जीत लेता है' आदि॥३१॥

सूत्रार्थ–स्वपक्ष की सिद्धि न होना ही पराजय है ॥३२॥

७४--वादी या प्रतिवादी के अपने पक्ष की जो असिद्धि है, वही पराजय है । वह असिद्धि या पराजय साधन के बदले साधनाभास का प्रयोग करने से अथवा समीचीन साधन का प्रयोग करने पर भी परोक्त दूषण का निवारण न करने से होती है॥३२॥

७५–शंका–यदि असिद्धि ही पराजय है तो निग्रह कैसा होता है ? वाद निग्रहान्त होता है अर्थात् वादी या प्रतिवादी जब निग्रहस्थान को प्राप्त होता है तभी वाद की समाप्ति हो जाती है। इस शंका का समाधान करने के लिए कहा गया है—

सूत्रार्थ-पराजय ही वादी और प्रतिवादी का निग्रह है ॥३३।

७६–वादी अथवा प्रतिवादी का पराजय होना ही निग्रह है, बध या बन्धन नहीं । अथवा अपने पक्ष की सिद्धि न होने रूप पराजय ही निग्रह का कारण होने से निग्रह कहलाता है। इससे भिन्न कोई निग्रह नहीं है, जैसा कि दूसरे (नैयायिक) कहते हैं– विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान हैं ॥३३॥

७७-इस विषय में कहा गया है-सूत्रार्थ-विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति मात्र निग्रहस्थान नहीं हैं ३४

७८–विपरीत–कुत्सित या विगर्हणीय प्रतिपत्ति को अर्थात् उलटी समझ को विप्रतिपत्ति कहते हैं। साधनाभास को साधन समझ बैठना और दूषणाभास को स्वच्छ वास्तविक दूषण समझ लेना विप्रतिपत्ति है। जो करना चाहिए उसे न करना अर्थात् विरोधी पक्ष के साधन को दूषित न

साधने दूषणं दूषणे चोद्धरणं तयोरकरणम् 'अप्रतिपत्तिः' । द्विधा हि वादी पराजीयते-यथाकर्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं वा प्रतिपद्यमान इति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती एव 'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम्' 'न' पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योश्च निग्रहस्थानत्वनिरासात् तद्भेदानामपि निग्रहस्थानत्वं निरस्तम् ।

७९–ते च द्वाविंशतिर्भवन्ति । तद्यथा–१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, ३ प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थान्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८ अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थकम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३ पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेपः, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, २२ हेत्वाभासाश्चेति । अत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिप्रकाराः । शेषा विप्रतिपत्तिभेदाः ।

८०–तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्–"प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः" (न्यायसू०.५. २. २.) इति सूत्रम् । अस्य भाष्यकरीयं व्यख्यानम्–"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । यथाअनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्य-

करना और दिये हुए दोष का उद्धार न करना अप्रतिपत्ति है । वादी का पराजय दो प्रकार से होता है— अपने कर्त्तव्य को पूरा न करने से अथवा विपरीत रूप से पूरा करने से यह विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति मात्र पराजय का कारण नहीं है किन्तु अपने पक्ष की असिद्धि ही पराजय है । यहाँ विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति की निग्रहस्थानता का निषेध करने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि इनके भेद भी निग्रहस्थान नहीं हैं ।

७९--विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के भेदरूप निग्रहस्थान बाईस हैं । यथा--(१) प्रतिज्ञाहानि (२) प्रतिज्ञान्तर (३) प्रतिज्ञाविरोध (४) प्रतिज्ञासंन्यास (५) हेत्वन्तर (६) अर्थान्तर (७) निरर्थक (८) अविज्ञातार्थ (९) अपार्थक (१०) अप्राप्तकाल (११) न्यून (१२) अधिक (१३) पुनरुक्त (१४) अननुभाषण (१५) अज्ञान (१६) अप्रतिभा (१७) विक्षेप (१८) मतानुज्ञा (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण (२०) निरनुयोज्यानुयोग (२१) अपसिद्धान्त (२२) हेत्वाभास ।

इन बाईस में से अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप और पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रतिपत्ति के भेद हैं ।

८०--प्रतिज्ञाहानि–'प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः' अर्थात् प्रतिदृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान है । इस निग्रहस्थान की व्याख्या न्यायसूत्र के भाष्यकार ने इस प्रकार की है–जब प्रतिवादी साध्यधर्म के विरोधी किसी धर्म से वादी के (हेतु का निराकरण) करे तब वादी विरोधी दृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर ले तो वह अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग करता है, इस कारण प्रतिज्ञाहानि होती है । यथा- वादी ने प्रयोग किया–'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है, जो इन्द्रिय

मैन्द्रियकं नित्यं दृष्टं कस्मान्न तथा शब्दोऽपीत्येवं स्वप्रयुक्तहेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति-यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्विति । स खल्वयं साधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन् निगमनान्तमेव पक्षं जहाति । पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति" (न्यायभा० ५. २. २) । तदेतदसङ्गतमेव, साक्षाद् दृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः तत्रैव धर्मपरित्यागात् । परम्परया तु हेतूपनयनिगमनानामपि त्यागः, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात् । तथा च प्रतिज्ञाहानिरेवेत्यसङ्गतमेव । वार्त्तिककारस्तु व्याचष्टे-"दृष्टश्चासावन्ते स्थितत्वादन्तश्चेति दृष्टान्तः पक्षः । स्वदृष्टान्तः स्वपक्षः । प्रतिदृष्टान्तः प्रतिपक्षः । प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति--यदि सामान्यमैन्द्रियकम् नित्यं शब्दोऽप्येवमस्त्विति" (न्यायवा०५ २. २.) । तदेतदपि व्याख्यानमसङ्गतम्-इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात् । न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्, अधिक्षेपादिभि-

---

का विषय होता है वह अनित्य होता है,जैसे घट । वादी के इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी दूषण देता है-'सामान्य इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी जैसे नित्य है, उसी प्रकार शब्द भी नित्य क्यों नहीं हो सकता ?' इस प्रकार कहने पर वादी अपने पर प्रयुक्त हेतु की आभासता (अनैकान्तिकता) को जान लेता है, फिर भी कथा का अन्त न करके अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करता हुआ कहता है-'यदि सामान्य इन्द्रिय का विषय होते हुए भी नित्य है तो भले घट भी नित्य हो ! इस प्रकार वादी अपने पक्षसाधक दृष्टान्त में (घट में) नित्यता का प्रसंग देता हुआ अपने निगमनपर्यन्त पक्ष का ही परित्याग करता है (शब्द की अनित्यतारूप पक्ष को त्याग देता है)और पक्ष का परित्याग करता हुआ प्रतिज्ञा को ही त्याग देता है, क्योंकि पक्ष का आधार प्रतिज्ञा है) सपक्षभूत घट की नित्यता की नयी प्रतिज्ञा करता है ।,यह प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान है । नैयायिकों का यह कथन असंगत है । उपर्युक्त प्रतिज्ञाहानि साक्षात् दृष्टान्तहानि रूप है' क्योंकि यहाँ दृष्टान्त में ही धर्म का परित्याग किया गया है । हाँ, परम्परा से हेतु ,उपनय और निगमन का भी त्याग किया है, क्योंकि दृष्टान्त असमीचीन होने पर हेतु आदि भी असमीचीन हो जाते हैं, । ऐसी स्थिति में इसे प्रतिज्ञा की ही हानि कहना असंगत है । न्यायवार्त्तिककार ने'प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः' इस सूत्र में आए हुए दृष्टान्त शब्द का अर्थ पक्ष किया है । स्वदृष्टान्त अर्थात् स्वपक्ष और प्रतिदृष्टान्त अर्थात् प्रतिपक्ष । आशय यह हुआ कि प्रतिपक्ष के धर्म को स्वपक्ष में स्वीकार करता हुआ वादी अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करता है, यथा-'यदि सामान्य इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी नित्य है तो शब्द भी नित्य हो जाय । किन्तु वार्त्तिककार का यह व्याख्यान भी संगत नहीं है । प्रतिज्ञा की हानि इसी एक प्रकार से होती है, ऐसा अवधारण करना शक्य नहीं है । प्रतिपक्ष के धर्म को अपने पक्ष में स्वीकार करने वाला ही प्रतिज्ञा का त्याग करता है, ऐसी बात तो है नहीं, जिससे कि प्रतिज्ञाहानि का यही एक प्रकार

राकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्ता(त्) किञ्चित् साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानानस्याप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणकत्वोपपत्तेरिति १ ।

८१-प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयात्–युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयम् 'अनित्यः शब्दः' इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरम् 'असर्वगतः शब्द' इति कुर्वन् प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । एतदपि प्रतिज्ञाहानिवन्न युक्तम्, तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः । प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः, पक्षत्यागस्योभयत्राविशेषात् ? । यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात् पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा च स्वपक्षसिद्धयर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दानित्यत्वसिद्धयर्थं भ्रान्तिवशात् तद्वच्छब्दोऽपि नित्योऽस्तु' इत्यनुज्ञानम्, यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुद्धयते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदाच्च तद्भेदे अनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुषङ्गः स्यात् । तेषां च तत्रान्तर्भावे प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावः स्यादिति २ ।

संभव हो । वादी यदि आक्षेप आदि किसी कारण से व्याकुल हो जाय, प्रकृति से ही सभाभीरु हो या अन्यमनस्क हो, इत्यादि किसी भी निमित्त से किसी धर्म को साध्य बनाकर फिर उससे विपरीत प्रतिज्ञा का प्रयोग करने लग सकता है । पुरुषों की भ्रान्तिका एक ही कारण नहीं होता —अनेक कारणों से भ्रान्ति होती देखी जाती है ।

८१–प्रतिज्ञान्तर–प्रतिज्ञा अर्थ का प्रतिवादी द्वारा निषेध करने पर यदि वादी उसी पक्ष में दूसरे धर्म को सिद्ध करने लगे तो प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है । यथा–'शब्द अनित्य है,'क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है' ऐसा कहने पर प्रतिवादी ने पूर्ववत् सामान्य से व्यभिचार का प्रसंग दिया । तब वादी यदि ऐसा कहने लगे–'ठीक है सामान्य इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी नित्य है, किन्तु सामान्य सर्वगत (व्यापक) है और शब्द असर्वगत है । इसप्रकार कहने वाला वादी 'शब्द अनित्य है, अपनी इस दूसरी प्रतिज्ञा को अंगीकार करता है । वह प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह से निगृहीत होता है। यह प्रतिज्ञानिग्रहस्थान भी प्रतिज्ञाहानि के समान उचित नहीं है । प्रतिज्ञान्तर भी अनेक निमित्तों से हो सकता है । इसके अतिरिक्त जब पक्ष का त्याग दोनों में समान है तो प्रतिज्ञाहानि से इसमें विशेषता क्या रही है ? जैसे प्रतिदृष्टान्त के धर्म को स्वदृष्टान्त में स्वीकार करने से पक्ष का त्याग हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तर से भी पक्ष का त्याग हो जाता है । कदाचित् कहा जाय कि पक्षत्याग दोनों जगह समान होने पर भी उसके निमित्त में भेद है, इस कारण निग्रहस्थानों में भी भेद माना गया है तो फिर दूसरे ऐसे निग्रहस्थान भी मानने पड़ेंगे जिन्हें आपने माना नहीं है । अगर उनका इन्हीं में अन्तर्भाव होना कहते हो तो प्रतिज्ञान्तर का भी प्रतिज्ञाहानि में ही अन्तर्भाव हो जाना चाहिए ।

८२–"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" (न्यायसू० ५, २, ४) नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति । सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः–यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः?, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति?, तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते । तदेतदसङ्गतम् । यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ३ ,

८३–पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानेकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्–क एवमाह–अनित्यः शब्द इति –स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते,हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४ ।

८४–अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते–'जातिमत्त्वे

८२–प्रतिज्ञाविरोध–प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध होना । जैसे द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि रूप आदि से भिन्न उपलब्ध नहीं होता । यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है–यदि द्रव्य गुणों से भिन्न है तो रूपादि से भिन्न उपलब्ध होना चाहिए । यदि भिन्न नहीं उपलब्ध होता तो उसे भिन्न कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार प्रतिज्ञा से विरुद्ध हेतु का प्रयोग करने से वादी पराजित हो जाता है । किन्तु यह निग्रहस्थान भी असंगत है । यदि हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का प्रतिज्ञात्व निरस्त कर दिया गया तो प्रकारान्तर से यह 'प्रतिज्ञाहानि' ही हो गई ; अथवा यह हेतु में विरुद्धता दोष हुआ–प्रतिज्ञादोष नहीं ।

८३–प्रतिज्ञासंन्यास–प्रतिवादी के द्वारा साधन में दोष की उद्भावना करने पर वादी जब उस दोष का निवारण करने में समर्थ न हो तब अपनी प्रतिज्ञा से ही मुकर जाय तो प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान होता है । यथा–शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रिय का विषय है, इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी सामान्य से व्यभिचार दोष का उद्भावन करे । ऐसी स्थिति में वादी यदि कहने लगे–'कौन कहता है कि शब्द अनित्य है ।' इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा का ही अपलाप कर देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है । इससे वादी का पराजय होता है । किन्तु यह भी प्रतिज्ञाहानि से पृथक् नहीं है । अपने हेतु को अनैकान्तिक पाकर कह प्रतिज्ञा का (अपलाप कर के) त्याग करता है ।

८४ हेत्वन्तर-वादी ने विना विशेषण के हेतु का प्रयोग किया । प्रतिवादी ने उसका प्रतिषेध किया । तब वादी यदि हेतु के साथ कोई विशेषण जोड़ दे तो हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान होता है, यथा–शब्द अनित्य है, इत्यादि प्रयोग में पूर्ववत् सामान्य से अनैकान्तिकता दोष की उद्भावना

सति इत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । इदमप्यतिप्रसृतम्, यतोऽविशेषोक्ते दृष्टान्ते उपनये निगमने वा प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत, तत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५।

८५–प्रकृतादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः, कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम् । पदं च नामाख्यातनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यते । एतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते निग्रहाय कल्पेत, असमर्थे वा? । न तावत्समर्थे; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत् । असमर्थेऽपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तत् निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा? । प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्धेरेवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात् । द्वितीयपक्षेऽप्यतो न निग्रहः, पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति ६ ।

करने पर जातिमत्त्वे १सति ऐसा विशेषण लगाने वाला वादी हेत्वन्तर निग्रहस्थान से पराजित होता है । किन्तु यह भी ठीक नहीं है । जैसे निर्विशेषण हेतु का प्रयोग करने पर बाद में विशेषण लगाना हेत्वन्तर है, उसीप्रकार निर्विशेषण दृष्टान्त, उपनय या निगमन का प्रयोग किया जाय और प्रतिवादी उसमें दोष प्रदर्शित करे तो दृष्टान्त आदि में विशेषण लगाना भी दृष्टान्तर,उपनयान्तर और निगमनान्तर नामक निग्रहस्थान मानना चाहिए । क्योंकि जो युक्ति हेत्वन्तर के लिए है वही दृष्टान्तर आदि के लिए भी होगी ।

८५–अर्थान्तर–प्रकृत अर्थ से अर्थान्तर का कथन करना जिसका कि प्रकृत अर्थ की सिद्धि से कोई सम्बन्ध न हो अर्थान्तर निग्रहस्थान कहलाता है । यथा–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है । यहाँ कृतकत्व हेतु है । 'हिनोति, धातु से 'तु, प्रत्यय लगाने पर 'हेतु, ऐसा कृदन्त–पद निष्पन्न होता है । पद कई प्रकार के होते हैं–नामपद, आख्यातपद, निपातपद और उपसर्गपद इस प्रकार कह कर फिर नाम आदि की व्याख्या करने वाला अर्थान्तर निग्रहस्थान से निगृहीत होता है । किन्त यह अर्थान्तरनामक निग्रहस्थान साध्य को सिद्ध करने में समर्थ साधन या समर्थ दूषण का प्रयोग करने पर निग्रह का कारण होता है या असमर्थ साधन या दूषण का प्रयोग करने पर ? यदि समर्थ साधन या दूषण के पश्चात् वादी अर्थान्तर–कथन करता है तो वह निग्रह का कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि अपने साध्य को सिद्ध कर चुकने के पश्चात् अगर वह नाचने भी लगे तो भी कोई दोष की बात नहीं हैं । लोक में भी ऐसा देखा जाता है । अगर वादी ने असमर्थ साधन अथवा दूषण का प्रयोग किया है तो प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि होने पर वादी निगृहीत होगा अथवा सिद्धि न होने पर भी निगृहीत हो जाएगा? अगर प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि होने

१–इन्द्रिय का विषय होने से, इतना मात्र हेतु सामान्य में पाया जाता है अतः व्यभिचारी है किन्तु जातिमत्त्वे सति विशेषण लगाने से व्यभिचार नहीं होता. क्योंकि सामान्य जातिमान् नहीं अर्थात् सामान्य में सामान्य नहीं पाया जाता ।

८६–अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा अनित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्वाद् घझढधभवदिति। एतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा? । तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, सर्वथार्थशून्यशब्दस्यैवासम्भवात्, वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वोपपत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात्। किञ्चिद्विशेषमात्रेण भेदे वा खाट्कृत–हस्तास्फालन–कक्षापिट्टितादेरपि साध्यानुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति

८७–यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति। अत्रेदमुच्यते–वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा द्रुतोच्चाराद्वा? । प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्वसम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गः, गूढा-

---

पर वादी निगृहीत होता है तो प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि होने से ही उसका निग्रह हो जाएगा इस अर्थान्तरनिग्रहस्थान से नहीं। दूसरे पक्ष को स्वीकार किया जाय तो भी इस अर्थान्तर निग्रहस्थान से ही उसका निग्रह नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के ही पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है।

८६–अभिधेयरहित वर्णानुपूर्वी मात्र को निरर्थक निग्रहस्थान कहते हैं, अर्थात् अनुक्रम से ऐसे वर्णों का उच्चारण करना कि जिनका कुछ भी अर्थ न हो, वह निरर्थक निग्रहस्थान है। यथा-शब्द अनित्य है, कचटतप का गजडदब होने से, जैसे घझढधभ। इस निग्रहस्थान को सर्वथा अर्थशून्य होने से निग्रह का कारण मानते हो अथवा साध्य में उपयोगी न होने से ? पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वथा अर्थशून्य शब्द का होना ही असंभव है। वर्णक्रम का निर्देश भी अन्ततः अनुकार्य अर्थ से अर्थवान् होता ही है। अर्थात् उससे भी किसी न किसी का अनुकरण ध्वनित होता है। दूसरा पक्ष अंगीकार करो तो सभी निग्रहस्थान निरर्थक कहलाएँगे, क्योंकि साध्यसिद्धि में अनुपयोगी हैं। थोडे से अन्तर के कारण यदि पृथक् निग्रहस्थान मानते हो तो खटखट करना, हाथ फटकारना और कांख पीटना आदि भी जो साध्य में अनुपयोगी हैं, अलग निग्रहस्थान मानने पडेंगे।

८७–अविज्ञातार्थ– जो साधन वाक्य या दूषणवाक्य तीनबार बोलने पर परिषद् और प्रतिवादी की समझ में न आवे वह अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान कहलाता है। इसके विषय में प्रष्टव्य यह है कि वादी के तीन बार बोलने पर भी परिषद् और प्रतिवादी मन्दबुद्धि होने के कारण न समझ पावें, गूढ शब्दों के प्रयोग के कारण न समझ सकें ? अथवा जल्दी-जल्दी उच्चारण करने से न समझ सकें ? प्रथम पक्ष में समीचीन साधन बोलने वाला भी निगृहीत हो जाएगा, क्योंकि मन्द होने के कारण परिषद् और प्रतिवादी सत्साधन को न समझ सकें, यह संभव है। दूसरा पक्ष स्वीकार करो तो पत्रवाक्य में भी अविज्ञातता दोष मानना पडेगा।

भिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयोरप्यविज्ञाततत्वोपलम्भात् । अथाभ्यामविज्ञातमप्येतत् वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम्, अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य, न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्रुतोच्चारेप्यनयोः कथञ्चित् ज्ञानं सम्भवत्येव, सिद्धान्तद्वयवेदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरविज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत् । ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यत इति ८ ।

८८-पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि । एतदपि निरर्थकान्न भिद्यते । यथैव हि गजडदबादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरं तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्वं स्यात् पदवत्पौर्वापर्येणाऽप्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलभ्यात्-

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम् ।
तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूव ॥"

इत्यादिवत् ।

क्योंकि पत्रवाक्य में गूढ शब्दों का प्रयोग होने से महाप्राज्ञ परिषत् और प्रतिवादी भी उसे समझ नहीं पाते । कदाचित् कहा जाय कि परिषद् और प्रतिवादी पत्रवाक्य के जिस पद को नहीं समझ पाते उसकी व्याख्या स्वयं वादी कर देता है तो गूढ साध्य साधन वाक्य की व्याख्या भी वादी स्वयं कर देगा । अगर वह व्याख्या नहीं तो करेगा उसको विजय प्राप्त नहीं होगी, किन्तु वह निगृहीत नहीं होगा क्योंकि प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है । जल्दी-जल्दी उच्चारण करने के कारण अविज्ञातार्थ कहो सो ठीक नहीं क्योंकि जल्दी उच्चारण करने पर भी परिषद् और प्रतिवादी को कथंचित् ज्ञान हो ही जाएगा । आखिर वे वादी और प्रतिवादी-दोनों के सिद्धान्त के जानकार होते हैं । वादी यदि साध्य के लिए अनुपयोगी प्रलापमात्र करे और उसका परिषद् तथा प्रतिवादी को ज्ञान न हो तो वह वर्णानुपूर्वी के उच्चारण के समान अविज्ञातार्थक नहीं कहा जा सकता ।इस प्रकार यहअविज्ञातार्थ निग्रहस्थान निरर्थक से भिन्न नहीं है ।

८८-अपार्थक-पूर्वापर-असंगत पदों के समूह का प्रयोग करने से वाक्य का अर्थ ही सिद्ध न होना अपार्थक निग्रहस्थान है । जैसे दस दाडिम, छह पूआ इत्यादि । यह निग्रहस्थान भी निरर्थक निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है । जैसे निरर्थक निग्रहस्थान में गजडदब आदि में वर्ण निरर्थक हैं उसी प्रकार यहाँ पद निरर्थक हैं । अगर कहा जाय कि वर्णों की निरर्थकता से पदों की निरर्थकता भिन्न है, अतएव यह निग्रहस्थान पृथक् है तब तो वाक्यों की निरर्थकता वर्णों और पदों की निरर्थकता से भिन्न होने के कारण एक अलग निग्रहस्थान मानना पडेगा । क्योंकि एक दूसरे के आगे पीछे प्रयुक्त होने वाले निरर्थक वाक्य भी अनेक प्रकार के देखे जाते हैं । जैसे-'कदली में शंख है, भेरी में कदली है, उस भेरी में बहुत बड़ा विमान है, वह शंख भेरी कदली औय विमान उन्मत्त गंगा के समान हो गए । इत्यादि

८९-यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य। वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः। पदस्यार्थवत्त्वेन (वत्त्वे च) पदार्थापेक्षया: (वर्णार्थापेक्षया) वर्णस्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा। नाप्यनयोरनर्थकत्वम्। अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे; पदस्यापि तत् स्यात्। यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेस्याद्यन्तपदार्थस्य त्याद्यन्तपदार्थस्य च स्त्याद्यन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगः। पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९।

९०-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानम-

---

८९-यदि कहा जाय कि वाक्यों की निरर्थकता पदों की ही निरर्थकता है, क्योंकि पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है तो वर्णों की निरर्थकता ही पदों की निरर्थकता होनी चाहिए क्योंकि वर्णों का समूह ही पद कहलाता है।

शंका-वर्ण सर्वत्र निरर्थक होते हैं, अतएव वर्णों की निरर्थकता को ही पद की निरर्थकता मानने से पद भी सर्वत्र निरर्थक हो जाएँगे। समाधान-पद भी निरर्थक होते हैं अतएव पदों का समूह वाक्य भी निरर्थक हो जाएगा। शंका-वाक्यार्थ की अपेक्षा पद भले निरर्थक माना जाय किन्तु पदार्थ की अपेक्षा तो वह सार्थक ही होता है, अर्थात् वाक्य से प्रकट होने वाला अर्थ पद से नहीं प्रगट होता तथापि पद अपना अर्थ तो प्रगट करता ही है। अतः पद को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। समाधान—तो यही बात वर्ण के विषय में भी मानना चाहिए। अर्थात् पद से व्यक्त होने वाला अर्थ वर्ण से व्यक्त न होने पर भी वर्ण अपना अर्थ तो प्रगट करता ही है, जैसे प्रकृति (मूल शब्द) और प्रत्यय। न केवल प्रकृति को पद कह सकते हैं, न केवल प्रत्यय को। यह दोनों (पृथक्-पृथक् भी) निरर्थक नहीं हैं। यदि व्यक्त अर्थ को प्रकट न करने से इन्हें निरर्थक कहा जाय तो पद भी वाक्य के समान व्यक्त अर्थ को प्रकट नहीं करता है, अतः वह भी निरर्थक हो जाएगा। जैसे प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के द्वारा व्यक्त होता है और प्रत्यय का अर्थ प्रकृति के द्वारा व्यक्त होता है, इस कारण उनका साथ-साथ प्रयोग होता है अकेली-प्रकृति या अकेले प्रत्यय का नहीं, उसी प्रकार 'देवदत्तः तिष्ठति, इत्यादि प्रयोगों में स्याद्यन्तपद (देवदत्तः) का अर्थ त्याद्यन्तपद (तिष्ठति) अर्थ स्त्यादि पद से प्रकट होता है, अतएव इनका अकेले का प्रयोग नहीं किया जाता। अगर कहो कि पदान्तरसापेक्ष पद सार्थक होता है तो प्रकृतिसापेक्ष प्रत्यय प्रत्ययसापेक्ष प्रकृति आदि वर्णों में भी यही बात है, अर्थात् परस्पर सापेक्ष वर्ण भी सार्थक होते हैं। (इस प्रकार अपार्थक नामक निग्रहस्थान निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है।)

९०-अप्राप्तकाल-पहले प्रतिज्ञा, फिर हेतु, फिर उदाहरण, फिर उपनय और फिर निग-

नुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति,स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमाने क्रमस्याप्यङ्गत्वात्। एतदप्यपेशलम्,प्रेक्षावतां प्रतिपत्तृणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भात् । ननु यथापशब्दात् श्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न पुनस्तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात् । यस्माद्धि शब्दादुच्चरितात् यत्रार्थे प्रतीतिः स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्यतिक्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तुं शक्येत । एवं शब्दान्वाख्यानवैयर्थ्यमिति चेत्; नैवम्, वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपशब्देऽपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात् । संस्कृताच्छब्दात्सत्यात् धर्मोऽन्यस्मादधर्म इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यं धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः,अधार्मिके च धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिस्तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यते तन्निरर्थकं न त्वप्राप्तकालमिति १० ।

मन का प्रयोग अनुमान में किया जाता है। इस क्रम का उल्लंघन करके अवयवों में उलटफेर करके यदि अनुमान का प्रयोग किया जाय तो अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है। जैसे अपने को क्रम से प्रतिपत्ति होती है उसी प्रकार दूसरे को ज्ञान कराने–में परार्थानुमान में क्रम भी कारण होता है। यह कहना भी समीचीन नहीं,क्योंकि जो प्रतिपत्ता बुद्धिशाली है वह अवयवों के क्रम के विना भी अर्थ को समझलेता है। शंका-जैसे अशुद्ध शब्दको सुनने पर पहले शुद्ध शब्द का स्मरण होता है,तत्पश्चात् उससे अर्थका ज्ञानहोता है इस प्रकार शुद्ध से ही परम्परा से अर्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि अवयवों को व्युत्क्रम से सुनने पर पहले उनके क्रम का स्मरण होता है और फिर वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है–व्युत्क्रम से ज्ञान नहीं होता। समाधान–यह कहना निस्सार है, क्योंकि इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है। जिस शब्द के उच्चारण से जिस पदार्थ की प्रतीति होती है,वही शब्द उस पदार्थ का वाचक माना जाता है,अन्य नहीं। ऐसा न माना जाय तो इससे विपरीत कहा जा सकता है कि– शुद्ध शब्द को सुनने पर अशुद्ध शब्द का स्मरण होता है और अवयवों के अनुक्रम को सुनने पर उनके व्यतिक्रम का स्मरण होता है और तब अर्थ की प्रतीति होती है। शंका–यदि व्यतिक्रम से प्रयुक्त अवयवों से अर्थ की प्रतीति मान ली जाय तो उनका अनुक्रम से कहना वृथा हो जाएगा। समाधान–नहीं। यहाँ अनुक्रमवादी को अनिष्टापत्ति मात्र का प्रसंग दिखलाया है। अनुक्रम तो अशुद्ध शब्दों में भी देखा जाता है। शंका-संस्कृत और सत्य शब्द का उच्चारण करने से धर्म होता है और इससे विपरीत शब्द के उच्चारण से अधर्म होता है। समाधान– ऐसा नियम मान लिया जाय तो धर्म अधर्म के अन्य नियम व्यर्थ हो जाएँगे इसके अतिरिक्त धर्म और अधर्ममें कोई प्रतिनियतता नहीं रहेगी,क्योंकि धार्मिक और अधार्मिक दोनों प्रकार के पुरुषों में दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना देखा जाता है। अथवा प्रतिज्ञा आदि अवयवों के क्रम के कारण ही अर्थ की प्रतीति होती है,ऐसा मान भी लिया जाय तो क्रम के कारण होने वाला अर्थ का प्रत्यय जिस वाक्य से क्रमविहीन किया जाता है वह निरर्थक निग्रहस्थान हो सकता है, उसे अप्राप्तकाल नहीं कह सकते।

९१-पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात् प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात्। अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति १२।

९२-एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निष्प्रयोजनाभिधानात्। एतदप्ययुक्तम्, तथाविधाद्वाक्यात् पक्षसिद्धौ पराजयायोगात्। कथं चैवं प्रमाणसंप्लवोऽभ्युपगम्यते? अभ्युपगमे वाऽधिकन्निग्रहाय जायते। प्रतिपत्तिदार्ढ्यसंवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः; इत्यन्यत्रापि समानम, हेतुनोदाहरणेन चै(वै)केन प्रसाधितेऽप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोरुदाहरणस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवमनवस्था, कस्यचित् क्वचिन्निराकाङ्क्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययस्य वचनम्, यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थ-

९१-न्यून-अनुमान में पाँच अवयवों का प्रयोग करना चाहिए। उनमें से किसी भी एक अवयव का प्रयोग न करना न्यून नामक निग्रहस्थान है। साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती और केवल हेतु ही नहीं बल्कि प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयव साधन हैं,अतएव पाँचों का ही प्रयोग होना चाहिए। यह कथन भी समीचीन नहीं। पहले ही कहा जा चुका है कि पाँच अवयवों के विना भी साध्य की सिद्धि होती है। केवल प्रतिज्ञा और हेतु का प्रयोग ही आवश्यक है, इनके प्रयोग के विना साध्य सिद्ध नहीं होता। अतएव प्रतिज्ञा और हेतु में से किसी एक का प्रयोग न करना ही न्यून निग्रहस्थान हो सकता है।

९२-- अधिक-एक ही हेतु या एक ही उदाहरण के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो जाने पर भी दूसरे हेतु या उदाहरण का प्रयोग करना अधिक नामक निग्रहस्थान है,क्योंकि दूसरे का कथननिष्प्रयोजन है, ऐसा कहना भी अयुक्त है। यदि वादी दूसरे हेतु अथवा उदाहरण का प्रयोग करके भी अपने पक्ष को सिद्ध कर देता हैं तो वह पराजित नहीं कहला सकता। इसके अतिरिक्त जब आप दूसरे हेतु के प्रयोग को निग्रह मानते हैं तो प्रमाणसंप्लव (१) कैसे मान सकते हैं प्रमाणसंप्लव मानने से अधिक नामक निग्रहस्थान हो जाएगा। शंका-प्रतिपत्ति की दृढता और संवाद के लिए प्रमाणसंप्लव मानने में निग्रह नहीं होता क्योंकि उससे विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। समाधान-यह बात तो दूसरे हेतु और उदाहरण के प्रयोग के विषय में भी समान है एक हेतु या उदाहरण के द्वारा किसी अर्थ को सिद्ध करने पर भी दूसरे हेतु या उदाहरण का प्रयोग निरर्थक नहीं है,क्योंकि उसका भी विशेष प्रयोजन होता है। शंका-यों मानने से तो अनवस्था-दोष हो जाएगा-कहीं विश्रान्ति ही नहीं होगी। समाधान-कहीं न कहीं आकांक्षा की समाप्ति हो ही जायगी जैसे प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति की समाप्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त 'कृतकत्व, आदि हेतुओं में स्वार्थ में लगाया हुआ 'क, प्रत्यय, 'जो कृतक होता है, सो अनित्य होता है, ऐसी व्याप्ति में प्रयोग किया हुआ 'जो' और 'सो' पद तथा समासयुक्त पद से ही अर्थ की सिद्धि

१-एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लव कहलाता है।

प्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात् ? । तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्तन्नेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोरुदाहरणस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम् ? । निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति १२ ।

९३–शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवत्यन्यत्रानुवादात् । शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते । यथा अनित्यः शब्दः अनित्यः शब्द इति । अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोक्तः पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते । यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषो यथा-"हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" (न्यायसू० १. १. ३९) इति । अत्रार्थपुनरुक्तमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थभेदेन शब्दसाम्येऽप्यस्यासम्भवात् यथा–

"हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥"–(वादन्याय: पृ० १११)

संभव होने पर भी असमस्त वाक्य का प्रयोग भी अधिक होने से निग्रहस्थान क्यों नहीं होता ? अगर कहो कि अधिक होने पर भी उनसे विशेष प्रतिपत्ति होती है, अतएव उन्हें निग्रहस्थान नहीं कहते तो अनेक हेतुओं या उदाहरणों से भी विशेष प्रतिपत्ति होती है. अतएव उनके प्रयोग को निग्रहस्थान क्यों कहते हो ? हाँ, यदि निरर्थक हेतु या उदाहरण का प्रयोग किया जाय तो वह निरर्थक होने से ही निग्रहस्थान होगा, अधिक होने से नहीं ।

९३-पुनरुक्त अनुवादको छोड़कर शब्द और अर्थकी पुनरुक्ति करना पुनरुक्त निग्रहस्थान कहलाता है । एक ही शब्द का एक बार से अधिक प्रयोग करना शब्द–पुनरुक्ति है, जैसे 'शब्द अनित्य है, शब्द अनित्य है ।, किसी अर्थ को एक शब्द द्वारा कह कर अर्थ–पुनरुक्ति कहलाती है । यथा 'शब्द अनित्य है, ध्वनि विनाशवान् है ।' परन्तु अनुवाद करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, जैसे प्रतिज्ञा को दोहराने रूप निगमन का प्रयोग पुनरुक्ति नहीं है । किन्तु यहाँ अर्थ की पुनरुक्ति ही अनुचित है–वह नहीं होनी चाहिए । शब्द की समानता होने पर भी अर्थभेद होता है तो पुनरुक्ति दोष नहीं होता । यथा–

हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥

(यहाँ क्रियापदों में शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद (१) होने से पुनरुक्ति नहीं है ।)

हसति, रुदति, प्रनिन्दति और प्रनृत्यति ये चारों वर्त्तमान कृदन्त शब्द के (सति) सप्तमी एकवचन के रूप हैं और 'हसति' आदि दूसरे रूप क्रियापद हैं, अत. यहाँ अर्थभेद है ।

इत्यादि । ततः स्पष्टार्थवाचकैस्तैरेवान्यैर्वा शब्दैः सभ्याः प्रतिपादनीयाः । तदप्रतिपादकशब्दानां तु सकृत् पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तमिति । यदपि अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तं यथा असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीत्युक्ते अर्थादापद्यते सत्सु भवतीति तत् कण्ठेन कथ्यमानं पुनरुक्तं भवति, अर्थगत्यर्थे हि शब्दप्रयोगे प्रतीतेऽर्थे किं तेनेति? । एतदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं नान्यथा । तथा चेदं निरर्थकान्न विशिष्येतेति १३ ।

९४-पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयत् (न्) किमाश्रयं दूषणमभिदधतीति (०दधीतेति) । अत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उत यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति? । तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाव्याघातात् । यथा सर्वमनित्यं सत्त्वादित्युक्ते-सत्त्वादित्ययं हेतुर्विरुद्ध इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते क्षणक्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति च सम-

---

स्पष्ट अर्थ के वाचक उन्हीं शब्दोंद्वारा अथवा अन्य शब्दोंसे सभ्यों को अपना अभीष्ट समझा देना उचित है । हाँ, जो अर्थ के वाचक न हों ऐसे शब्दों का न तो एक बार प्रयोग करना चाहिए और न बार-बार प्रयोग करना चाहिए, परन्तु ऐसे शब्दों के प्रयोग से निरर्थक निग्रहस्थान होता है, पुनरुक्ति नहीं । जो बात अर्थ से जानी जाय उसे शब्दों द्वारा पुनः कहना पुनरुक्ति है, जैसे-'मेघों के अभाव में वृष्टि नहीं होती, ऐसा कहने पर यह स्वयं विदित हो जाता है कि-'मेघों के होने पर वृष्टि होती है । किन्तु इन शब्दों को कंठ से कहना पुनरुक्ति है, क्योंकि जब अर्थ समझ में आ जाय तो उसे शब्दों द्वारा कहने की क्या आवश्यकता है ? यह भी प्रतीत अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण निग्रहस्थान है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार यह पुनरुक्त निग्रहस्थान निरर्थक से भिन्न नहीं है ।

९४-अननुभाषण— सभ्य जिसे समझ लें और वादी तीन बार जिसका उच्चारण कर दे प्रतिवादी उसका प्रत्युच्चारण न करे तो अननुभाषण नामक निग्रहस्थान होता है । वादीके कथन का प्रत्युच्चारण ही न करेगा तो उसमें दूषण कैसे दे सकता ? इस संबध में विचारणीय है कि -क्या वादी के समग्र कथन का उच्चारण न करना अननुभाषण निग्रहस्थान है या जिसका उच्चारण किये विना साध्य की सिद्धि न हो सकती हो,उसका उच्चारण न करना अननुभाषण है ? इनमें से पहला पक्ष स्वीकार करना अयुक्त है, क्योंकि वादी के समग्र कथन का प्रत्युच्चारण किये विना भी दूषण का प्रयोग करने में कोई रुकावट नहीं हो सकती । यथा-वादी ने कहा 'सर्व पदार्थ अनित्य हैं, क्योंकि सत् हैं, यहाँ प्रतिवादी वादी के पूरे कथन को न दोहरा कर सिर्फ यही कहता है-'क्योंकि सत् हैं' यह हेतु विरुद्ध है । इस प्रकार हेतु को ही दोहरा कर उसमें विरुद्ध दोष का उद्भावन करता है-क्षणक्षय आदि एकान्त में अर्थक्रिया का सर्वथा विरोध है, अतएव सत्त्व घटित नहीं हो सकता । ऐसा कह कर प्रतिवादी वादी के हेतु का निर-

र्थ्यते। तावता च परोक्तहेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन; । अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमननुभाषणं प्रतिपत्तव्यम्। अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति १४।

९५-पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नामनिग्रहस्थानं भवति। अविदितोत्तरविषयो हि क्वोत्तरं ब्रूयात्? । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात्। एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात् तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात्। तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्गः, परोक्तस्याऽर्धाऽज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५।

९६-परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति। एषाप्यज्ञानान्न भिद्यते १६।

९७-"कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः" (न्यायसू० ५. २. १९) नाम निग्रहस्थानं भवति। सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्ति-'इदं

सन करता है। ऐसी स्थिति में वादी के कहे शेष शब्दों को दोहराने की क्या आवश्यकता है? अतएव जिन शब्दों के दोहराए विना साध्य की सिद्धि न हो सकती हो, उन्हीं को दोहराना अननुभाषण निग्रहस्थान समझना चाहिए। कदाचित् प्रतिवादी शास्त्र के अर्थ के विशिष्ट परिज्ञान से विकल होने के कारण इस प्रकार दूषण देने में समर्थ न हो तो उत्तर न सूझने के कारण ही उसका तिरस्कार (पराजय) हो जाएगा, अननुभाषण से नहीं।

९५-अज्ञान-वादी के द्वारा प्रयुक्त वाक्य का अर्थ सभ्य समझ लें किन्तु प्रतिवादी की समझ में न आना अज्ञान नामक निग्रहस्थान है। प्रतिवादी उत्तर के विषय को ही नहीं समझेगा तो उत्तर किसका देगा? इस निग्रहस्थान को अननुभाषण में अन्तर्गत नहीं कर सकते, क्योंकि अनुभाषण का असामर्थ्य तो ज्ञात वस्तु में भी हो सकता है। नैयायिकों की यह मान्यता समीचीन नहीं है, क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थान पृथक् स्वीकार कर लेने पर प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान अलग नहीं रह सकेंगे, क्योंकि उनमें भी अज्ञान ही होता है। यदि प्रतिज्ञाहानि आदि को अज्ञान निग्रहस्थान का प्रभेद मान लिया जाय तो निग्रहस्थानों की प्रतिनियत संख्या (बाईस) कायम नहीं रहेगी। फिर तो वादी के आधे कथन को न समझने से भी पृथक् निग्रहस्थान हो जाएगा। इस प्रकार अनेक निग्रहस्थान हो जाएँगे।

९६-अप्रतिभा-वादी के पक्ष को समझ लेने पर भी और अनुभाषण करने पर भी उसका उत्तर न सूझना अप्रतिभानामक निग्रहस्थान है।

९७—विक्षेप—किसी कार्य का व्यासंग बतलाकर कथा का विच्छेद करना—बीच में से ही उसे समाप्त करना, विक्षेप निग्रहस्थान है। वादी जिस साध्य को सिद्ध करना चाहता है' उसे सिद्ध करना आवश्यक मालूम होने पर बीच में ही कथा (वाद) को समाप्त करता है-मेरा

मे करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्धः, इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते। एतदप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति १७।

९८-स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति। चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते-भवानपि चौरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते। इदमप्यज्ञानान्न भिद्यते। अनैकान्तिकता वात्र हेतोः; स ह्यात्मीयहेतोरात्मनैवानैकान्तिकतां दृष्ट्वा प्राह—भवत्पक्षेऽप्ययं दोषः समानस्त्वमपि पुरुषोऽसीत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति १८।

९९-निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति। पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते। एतच्च 'कस्य निग्रहः' इत्यनुयुक्तया परिषदोद्भावनीयं न त्वसावात्मनो दोषं विवृणुयात् 'अहं निग्राह्यस्त्वयोपेक्षितः इति। एतदप्यज्ञानान्न भिद्यते १९।

अमुक काम बिगड़ रहा है, पीनस से मेरा गला कंठ–रुँध गया है, इत्यादि कह कर अपना पिण्ड छुड़ाता है तो वह विक्षेप निग्रहस्थान से पराजित हो जाता है। किन्तु यह निग्रहस्थान भी अज्ञान से पृथक् नहीं है ?।

९८-मतानुज्ञा-वादी के स्वपक्ष में दिए गये दोष का निराकरण न करके,उलटे वही दोष परपक्ष में बतलाना मतानुज्ञा निग्रहस्थान है। यथा वादी ने कहा–आप चोर हैं, क्योंकि पुरुष हैं, प्रसिद्ध चोर के समान। तब प्रतिवादी कहता है–'पुरुष होने के कारण आप भी चोर हुए।, इस प्रकार कहने वाला प्रतिवादी अपने को चोर स्वीकार कर लेता है। किन्तु यह निग्रहस्थान भी अज्ञान से भिन्न नहीं है अथवा यहाँ हेतु में अनैकान्तिकता दोष समझना चाहिए। वह अपने हेतु में अपने से ही अनैकान्तिकता देख कर कहता है–आप के पक्ष में भी तो यही दोष समान है। तुम भी तो पुरुष ही हो। ऐसा कह कर वह एक प्रकार से अनैकान्तिक का ही उद्भावन करता है।

९९—पर्यनुयोज्योपेक्षण-निग्रहप्राप्त का निग्रह न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जो निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ हो उसे प्रतिवादी को यह अवश्य कहना चाहिए कि–'तुम अमुक निग्रहस्थान को प्राप्त हुए हो,। यदि कोई इसकी उपेक्षा कर दे अर्थात् निग्रहप्राप्त को निगृहीत घोषित न करे तो वह उपेक्षा करने वाला स्वयं पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान का भागी बन जाता है। निग्रह किसका हुआ है, यह बात सभ्यों को प्रकट करनी चाहिए। स्वयं वादी या प्रतिवादी तो अपने दोष को जाहिर करेगा नहीं कि–मैं निग्रह प्राप्त था और तुमने उपेक्षा करके मुझे निगृहीत नहीं किया। वस्तुतः यह निग्रहस्थान भी अज्ञान से पृथक् नहीं है ।

१००–"अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः" (न्यायसू० ५.२.२२) नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसि' इति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यते । एतदपि नाज्ञानाद्व्यतिरिच्यते २० ।

१०१–"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः" (न्यायसू० ५.२.२३) नाम निग्रहस्थानं भवति । न प्रथमं कञ्चित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते । तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते । एतदपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं नान्यथेति २१ ।

१०२––"हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः" (न्यायसू० ५. २. २४) असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् । अत्रापि विरुद्धहेतूद्भावनेन प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम् असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति २२ ॥३४॥

१०३–तदेवमक्षपादोपदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगताभिमतं तत् परीक्ष्यते—

नाप्यसाधनाङ्गवचनादोषोद्भावने ॥३५॥

१००––निरनुयोज्यानुयोग––निग्रहस्थान को प्राप्त न होने पर भी निग्रहस्थानप्राप्ति का आरोप लगाना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है । जो युक्तिसंगत कथन कर रहा है' अप्रमादी है अर्थात् बराबर स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण कर रहा है और निग्रह के योग्य नहीं है, उसे जो 'तुम निगृहीत हुए' ऐसा कहता है, वह स्वयं इस निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है।

यह निग्रहस्थान भी अज्ञान में ही अन्तर्गत है, उससे भिन्न नहीं है ।

१०१–अपसिद्धान्त–किसी सिद्धान्त को स्वीकार करके नियमविरुद्ध कथा करना अपसिद्धान्त निग्रहस्थान है । तात्पर्य यह है कि कोई वादी पहले किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है किन्तु अपने इष्ट साध्य को सिद्ध करने के लिए या परपक्ष को दूषित करने के लिए अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरुद्ध भाषण करता है, वह अपसिद्धान्तनिग्रहस्थान से निगृहीत होता है । किन्तु यह निग्रहस्थान तभी-निग्रहस्थान हो सकता है जब प्रतिवादी का पक्ष सिद्ध हो जाय, अन्यथा नहीं ।

१०२–हेत्वाभास–पूर्वोक्त असिद्ध विरुद्ध आदि हेत्वाभास भी निग्रहस्थान हैं । यहाँ विरुद्ध हेतु का उद्भावन करने से स्वतः प्रतिपक्ष की सिद्धि हो जाने के कारण निग्रहस्थान मानना उचित है । यदि असिद्धता आदि का उद्भावन किया जाय तो प्रतिवादी जब प्रतिपक्ष की सिद्धि कर ले तब ही निग्रहस्थान होता है, अन्यथा नहीं ॥३४॥

१०३–अक्षपाद द्वारा उपदिष्ट निग्रहस्थानों की परीक्षा करके अब बौद्धसम्मत निग्रहस्थानों की परीक्षा करते हैं—

सूत्रार्थ—असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन भी पराजय नहीं हैं ॥३५॥

१०४–स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' अदोषोद्भावनम्' च । यथाह धर्मकीर्त्तिः–

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ।।" –(वादन्यायः का० १)

१०५–अत्र हि स्वपक्षं साधयन् असाधयन् वा वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्योद्भावनं व्यर्थम् । द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि न कस्यचिज्जयः पक्षसिद्धेरुभयोरभावात् ।

१०६–यच्चास्य व्याख्यानम्–साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्-तूष्णीम्भावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनं विपक्षे बाधकप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रस्थानमिति–तत् पञ्चावयवप्रयोगवादिनोऽपि समानम् । शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुं सिद्ध्यंगस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः । ननु चास्य तदवचनेऽपि न निग्रहः, प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारसामर्थ्येन गम्यमानत्वात्, गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुष–

१०४–जैसा कि पूर्व में कह आए हैं, स्वपक्ष को असिद्धि ही पराजय है, असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नहीं । धर्मकीर्तिने कहा है––'असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन, यह दो ही निग्रहस्थान हैं। इनसे भिन्न कोई निग्रहस्थान नहीं है,अतएव उन्हें स्वीकार नहीं किया गया है ।'

१०५–बौद्धों की इस मान्यता के सम्बन्ध में विचारणीय हैं कि–वादी और प्रतिवादी में से कोई भी असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन के द्वारा दूसरे को निगृहीत करता है सो अपने पक्ष को सिद्ध करता हुआ निगृहीत करता है अथवा सिद्ध न करता हुआ ? प्रथम पक्ष में स्वपक्ष की सिद्धि से ही विरोधी पक्ष का पराजय हो जायगा, फिर दूसरे दोष की उद्भावना करना वृथा है । दूसरे पक्ष में असाधनांगवचन आदि दोषों का उद्भावन करने पर भी किसी को जय की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि दोनों के पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है ।

१०६–'असाधनांगवचन' की एक व्याख्या इस प्रकार की जाती है–साधन अर्थात् सिद्धि का अंग है–त्रिरूप [१]लिंग, उसका अवचन अर्थात् प्रयोग न करना–चुप्पी साध लेना या यद्वा तद्वा बोलना । अथवा साधन-त्रिरूप लिंग के अंग (समर्थन) का प्रयोग न करना अर्थात् जो विपक्ष में बाधक प्रमाण न दिखलाना । तात्पर्य यह है कि तीन लक्षणों वाले हेतु का प्रयोग न करना अथवा हेतु का समर्थन न करना असाधनांगवचननामक निग्रहस्थान कहलाता है । किन्तु यह बात तो पंचावयव प्रयोगवादी (नैयायिक) के लिए भी समान है । वह भी कह सकता है कि सिद्धि के अंग–पंचावयवप्रयोग का कथन न करने से सौगत का निग्रह हो जाता है । शंका–पाँच अवयवों का प्रयोग न करने पर भी सौगत का निग्रह नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन का पक्षधर्मोपसंहार (उपनय) से ही ज्ञान हो जाता है । स्वतः ज्ञान को शब्दों

१–पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति लक्षणवाला हेतु ।

ङ्गात्, तत्प्रयोगेऽपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्यार्थाप्रसिद्धेः; इत्यप्यसत्, पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुषङ्गात् । अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानाया अपि प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं निगमनस्य वचनं किं न स्यात् ?। नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्वं घटते, भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत् । ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनाङ्गतेति-चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुषङ्गात् । विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ

द्वारा कहने से पुनरुक्ति दोष होता है । प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग कर देने पर भी हेतु का प्रयोग किये बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती । (अतएव प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग निरर्थक है ।) समाधान—यह कथन असत् है । इस युक्ति से तो पक्षधर्मोपसंहार का प्रयोग भी निरर्थक ठहरेगा । शंका—'जो सत् होता है वह सब क्षणिक होता है, जैसे–घट, शब्द भी सत् है' इस प्रकार के पक्ष धर्मोपसंहार का प्रयोग निरर्थक नहीं हैं । इसके प्रयोग से हेतु में पक्षधर्मत्व के अभाव से आने वाली असिद्धता का व्यवच्छेद होता है । समाधान-तो साध्य कहाँ सिद्ध किया जा रहा है, इस प्रकार की शंका का निवारण करने के लिए गम्यमान प्रतिज्ञा का प्रयोग भी निरर्थक नहीं कहा जा सकता और प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण एकार्थक हैं-एक ही साध्य को सिद्ध करते हैं, यह प्रकट करने के लिए निगमन का प्रयोग करना भी सार्थक है । प्रतिज्ञा आदि अवयवों की एकार्थकता दिखलाना आवश्यक है,इसके बिना उनकी संगति नहीं हो सकती । प्रतिज्ञा का विषय कुछ और हो, हेतु का विषय अन्य हो और उदाहरण का विषय भिन्न हो तो वे कैसे संगत हो सकते हैं ?

शंका–यदि प्रतिज्ञा के प्रयोग से साध्य की सिद्धि मान ली जाए तो हेतु आदि का प्रयोग करना निरर्थक हो जाएगा । यदि प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि नहीं होती तो उसे साधन का अंग नहीं कहा जा सकता । समाधान–यदि हेतु से साध्यसिद्धि होती है तो दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक हो जाना चाहिए । अन्यथा वह साधन का अंग नहीं कहा जा सकता । यह दोष आपके मत में भी समान रूप से लागू होता है । शंका–दृष्टान्त का प्रयोजन साध्य और साधन की व्याप्ति को प्रदर्शित करना है, अतएव उसे निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ? यदि दृष्टान्त के प्रयोग द्वारा साध्य-साधन की व्याप्ति प्रदर्शित न की जाय तो हेतु गमक ही नहीं होगा । समाधान–यह कथन अयुक्त है । जब आप 'सत्त्व' हेतु से समस्त पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध करते हैं तो वहाँ कोई दृष्टान्त संभव नहीं है (क्योंकि समस्त पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं) । ऐसी स्थिति में आपका हेतु गमक नहीं होगा । (किन्तु दृष्टान्त के अभाव में भी आपने सत्त्व हेतु को गमक

तथैव गमकत्वप्रसङ्गात् दृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत् ? । तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्तते ? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत् ; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ? ।

१०७–यच्चेदमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्–साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनम्, वैधर्म्येण च प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तमतो न साधनाङ्गम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतो वादिनो निग्रहः स्यात्, असाधयतो वा? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपालम्भमात्रेणास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेवं नाटकादिघोषणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्;

स्वीकार किया है ।) शंका-सत्त्व आदि हेतु दृष्टान्त–सपक्ष के बिना भी केवल विपक्षव्यावृत्ति से ही गमक हो जाते हैं, समाधान-तो सभी जगह विपक्षव्यावृत्ति से ही हेतु गमक हो जायगा, फिर दृष्टान्त की क्या आवश्यकता है ? विपक्षव्यावृत्ति के द्वारा हेतु का समर्थन करने वाला प्रतिज्ञा का निषेध कैसे कर सकता है? यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग नहीं किया जाएगा तो कैसे विदित होगा कि हेतु या साध्य कहाँ रहता है ?

शंका–प्रसंग आदि से गम्यमान प्रतिज्ञा (पक्ष) में हेतु और साध्य का रहना समझा जा सकता है । समाधान-तो इसी प्रकार गम्यमान हेतु का समर्थन किया जा सकता है । फिर हेतु का प्रयोग करके समर्थन करने की क्या आवश्यकता ? शंका-मन्दबुद्धियों को समझाने के लिए गम्यमान हेतु का प्रयोग करना आवश्यक है। समाधान-तो इसीलिए प्रतिज्ञाआदि का प्रयोग करने में आपको क्यों असन्तोष होता है ? (मन्दगतियों को समझाने के लिए प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग भी स्वीकार करो ।)

१०७—असाधनांगवचन की एक दूसरी व्याख्या भी है, जो इस प्रकार है–साधर्म्य (विधि-रूप) से हेतु का प्रयोग कर देने पर भी वैधर्म्य से प्रयोग करना, अथवा वैधर्म्य से प्रयोग करने के पश्चात् भी साधर्म्य से प्रयोग करना पुनरुक्त है, अतएव वह साधन का अंग नहीं है । अर्थात् एक ही स्थल पर दोनों प्रकार का प्रयोग करना असाधनांग निग्रहस्थान है । यह व्याख्या भी समीचीन नहीं है । इस व्याख्या के अनुसार यह निग्रहस्थान किसको प्राप्त होगा–निर्दोष हेतु के बल से अपने पक्ष को सिद्ध करने वाला वादी इससे निगृहीत होगा अथवा अपने पक्ष को सिद्ध न कर सकने वाला ही निगृहीत होगा ? साध्य की सिद्धि में बाधा न डालने वाले वचनों की अधिकता के उपालंभ मात्र से स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला वादी निगृहीत नहीं हो सकता । क्योंकि वचनों की अधिकता का पक्ष–सिद्धि से कोई विरोध नहीं है । शंका--यों तो नाटक आदि की घोषणा करने से भी वादी का निग्रह नहीं माना जाएगा । समाधान— ठीक है । अपने साध्य

सत्यमेतत्, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत्, अन्यथा ताम्बूलभक्षण-भ्रूक्षेप-खाट्कृत-हस्तास्फालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निग्रहः स्यात् । अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निग्रहः, नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपालम्भो निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्,तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् ।

१०८–ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ,तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । साधनवादिना हि साधुसाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाज्ञानसिद्धेः पराजयः । प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात् इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधनवादिनः साधनाभासवादिनो वा वचनाधिक्यदोषमुद्भावयेत् ? । तत्राद्यपक्षे

को सिद्ध कर लेने के पश्चात् कोई नाचने लगे तो भी कोई बुराई नहीं । लोक में ऐसा देखा जाता है । साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी यदि वचनाधिक्यमात्र से निग्रह माना जाय तो ताम्बूलभक्षण, भ्रूक्षेप, खाट्कृत और हस्तास्फालन आदि से भी निग्रह मान लेना चाहिए । यदि यह माना जाय कि अपने पक्ष को सिद्ध न करने वाले को ही वचनाधिक्य निग्रहस्थान होता है तो यहाँ भी यह प्रष्टव्य है कि–प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि कर लेने पर वादी का वचनाधिक्य से निग्रह होता है अथवा प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि न होने पर भी वादी निगृहीत हो जाता है ? प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाए तो प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि हो जाने से ही वादी निगृहीत हो जाएगा, फिर वचनाधिक्य का उद्भावन करना व्यर्थ है । क्योंकि वचनाधिक्य का उद्भावन करने पर भी प्रतिवादी जब तक अपने पक्ष को सिद्ध न कर ले तब तक वह विजयी नहीं हो सकता । यदि दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाय तो एक साथ ही वादी और प्रतिवादी के पराजय या विजय का प्रसंग होगा, क्योंकि दोनों में से किसी के भी पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है ।

१०८-शंका-जय और पराजय का कारण स्वपक्ष की सिद्धि होना या न होना नहीं है । जय और पराजय का कारण तो ज्ञान और अज्ञान हैं । साधनवादी को समीचीन साधन जान कर प्रयोग में लाना चाहिए और दूषणवादी को सच्चा दूषण जान कर प्रयोग करना चाहिए । साधर्म्यप्रयोग या वैधर्म्यप्रयोग से अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकने पर दूसरे का प्रयोग करने के कारण प्रतिवादी ने चतुरंगसभा में वादी को असाधनांगवचन दोष का उद्भावन किया । इससे वादी के समीचीन साधनसंबंधी अज्ञान की सिद्धि हुई अतएव उसका पराजय हो गया और प्रतिवादी के दूषणज्ञान का निश्चय हो जाने से उसको विजय हुई । समाधान–यह कथन अविचारितरमणीय है । प्रतिवादी समीचीन साधन का प्रयोग करने वाले वादी को वचनाधिक्य दोष का उद्भावन करता है अथवा असमीचीन साधन का प्रयोग करने वाले को ? यदि समीचीन

वादिनः कथं साधुसाधनाज्ञानम्, तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानात् दूषणज्ञोऽसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोऽपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तददोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः । अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्पेत?। अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं वोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्यवचने वा साधर्म्यवचनं पराजयाय प्रभवेत्? । कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्, क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्? न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायामेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न भवति । युग-

---

साधन का प्रयोग करने वाले को करना है तो कैसे कहा जा सकता है कि उसे सत्साधन का ज्ञान नहीं है ? उसे समीचीन साधन का ज्ञान तो है, केवल वचनों की इयत्ता (परिणाम) का ही ज्ञान नहीं है । अगर दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रतिवादी के दूषणज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वादी ने साधनाभास का प्रयोग किया था, किन्तु प्रतिवादी ने साधनाभास दोष का उद्भावन नहीं किया (सिर्फ वचनाधिक्य का ही उद्भावन किया ।) शंका-वादी के वचनाधिक्य दोष को समझ लेने से यह सिद्ध होता है कि प्रतिवादी को दोष का ज्ञान है । समाधान-किन्तु वादी द्वारा प्रयुक्त साधनाभास का ज्ञान न होने से वह अदोषज्ञ भी तो है ! ऐसी स्थिति में वह वादी को एकान्ततः पराजित नहीं कर सकता । क्योंकि साधनाभास रूप दोष का उद्भावन न करने के कारण वह अपनी पराजय को रोक नहीं सकता । शंका-वचनाधिक्य दोष का उद्भावन करने से ही प्रतिवादी को विजय प्राप्त हो जाती है, अतएव साधनाभास का उद्भावन करना वृथा है । समाधान-तो साधनाभास का उद्भावन न करने के कारण प्रतिवादी का पराजय सिद्ध हो जाने पर वचनाधिक्य का उद्भावन करने से भी उसकी विजय कैसे हो सकती है ?

शंका-वचनाधिक्य अथवा साधनाभास, इन दोनों में से किसी भी एक दोष का उद्भावन करने से ही प्रतिवादी को विजय प्राप्त हो जाती है । समाधान-तो साधर्म्यवचन और वैधर्म्यवचन में से किसी एक का प्रयोग कर देने पर दूसरे के प्रयोग से वादी पराजित कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त, जय और पराजय का आधार यदि ज्ञान और अज्ञान ही माना जाए तो वादी और प्रतिवादी का पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना व्यर्थ हो जाएगा । साधन के सामर्थ्य का ज्ञान और अज्ञान तो किसी एक पक्ष में भी हो सकता है । शब्द आदि किसी एक पदार्थ की नित्यता-अनित्यता की परीक्षा में एक का साधन के सामर्थ्य का ज्ञान और दूसरे का एतद्विषयक अज्ञान जय-पराजय का कारण न होता हो, ऐसा तो है नहीं । यदि एक ही साथ

त्साधनासामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यादविशेषात्? । न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याज्ञान-सिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्रज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात् । नहि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि,कुतश्चिन्मारणशक्तौ वेदनेऽपि विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ संवेदनानुदयात् । तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिब-न्धनौ जयपराजयौ व्यवस्थापयितुं शक्यौ, यथोक्तदोषानुषङ्गात् स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धि-निबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् । कस्यचित् कुतश्चित् स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयप्रसङ्गात् ।

१०९–यच्चेदमदोषोद्भावनमित्यस्य व्याख्यानम्–प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावना-भावमात्रम्–अदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवा-दिनो निग्रहस्थानमिति–तत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव यदि वादी

वादी और प्रतिवादी को साधन के सामर्थ्य का ज्ञान हो जाय तो किसकी जय और पराजय होगी ? यदि किसी की भी जय–पराजय न मानो तो समीचीन साधन का प्रयोग करने वाले किन्तु वचनाधिक्य करने वाले वादी के साधनसामर्थ्य का अज्ञान सिद्ध होने से तथा वचनाधिक्य दोषमात्र का ही उद्भावन करने वाले प्रतिवादी के सिर्फ वचनाधिक्य का ही ज्ञान सिद्ध होने से (साधनाभास का ज्ञान न होने से) किसी की भी जय या पराजय नहीं होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि जो जिसके दोष को जानता है वह उसके गुण को भी अवश्य जाने । विष में प्राणघात की शक्ति होती है और कुष्ठ रोग का निवारण करने की भी । किन्तु संभव है कोई उसकी प्राणघातक शक्ति को तो जाने किन्तु कुष्ठनिवारण शक्ति से अनजान रहे । अतएव पूर्वोक्त दोषों के कारण साधन के सामर्थ्य के ज्ञान और अज्ञान के आधार पर जय और पराजय की व्यवस्था नहीं मानी जा सकती । स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के कारण ही जय–पराजय की व्यवस्था मानना निर्दोष है । ऐसा मानने से पक्ष–प्रतिपक्ष को ग्रहण करना व्यर्थ नहीं होता। किसी हेतु से किसी के पक्ष की सिद्धि सुनिश्चित हो जाने और दूसरे के पक्ष की सिद्धि का अभाव होने पर जय–पराजय हो सकती है ।

१०९–बौद्धसम्मत दूसरे निग्रहस्थान 'अदोषोद्भावन' की व्याख्या प्रसज्य और पर्युदास पक्ष में दो प्रकार से होती है । प्रसज्य पक्ष में 'अदोषोद्भावन' का अर्थ है–दोष का उद्भावन नहीं करना और पर्युदास पक्ष में अर्थ है–दोषाभासों या अन्य दोषों का उद्भावन करना । यह प्रतिवादी के लिए निग्रहस्थान है । अगर वादी ने निर्दोष साधन का प्रयोग किया हो और वह अपने पक्ष की सिद्धि कर ले तो यह निग्रहस्थान हमें भी स्वीकार ही है (क्योंकि वादी जब निर्दोष साधन का प्रयोग कर रहा है और प्रतिवादी उसमें दोष का उद्भावन नहीं करता या दोषाभास का उद्भावन करता है तो प्रतिवादी से पराजित होगा ही ।), हाँ, यदि वादी भी

स्वपक्षं साधयेन्नान्यथा । वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः । यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं निग्रहस्थानं तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात् । प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्--"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्यायसू० १. १. ३२) इत्यभिधानात् । तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषोऽनुषज्यत एव "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" (न्यायसू० ५. २. १२) इति वचनात् । ततो जयेतरव्यवस्थायां नान्यन्निमित्तमुक्तान्निमित्तादित्यलं प्रसङ्गेन ॥३५॥

११०-अयं च प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः कदाचित्पत्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽतस्तल्लक्षणमत्रावश्याभिधातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यावलम्बनं जयाय प्रभवति न चाविज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेत्तुं शक्यमित्याह--

---

अपने पक्ष को सिद्ध न कर सके तो उसे विजय प्राप्त नहीं हो सकती । वचनाधिक्य दोष का उत्तर पहले दिया जा चुका है । पाँच अवयवों का प्रयोग करना यदि बौद्ध की दृष्टि में अधिक नामक निग्रहस्थान है तो तीन अवयवों का प्रयोग करना नैयायिक की दृष्टि से न्यून नामक निग्रहस्थान है । इन दोनों पक्षों में युक्ति समान है ।

प्रतिज्ञा आदि पाँचों अनुमान के अंग हैं । न्यायसूत्र में कहा है--'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन, यह अनुमान के अवयव हैं । इन में से किसी भी एक अवयव का कथन न करने से न्यूनता दोष का प्रसंग होता है । कहा भी है—किसी भी एक अवयव से हीन प्रयोग न्यून दोष है ।

इस प्रकार जय और पराजय की व्यवस्था का पूर्वोक्त निमित्त--स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि-के सिवाय अन्य कोई निमित्त नहीं हो सकता । अब यह चर्चा समाप्त की जाती है ॥३५॥

११०—पूर्वोक्त चतुरंग वाद कभी-कभी पत्र के आधार पर भी होता है । अतएव यहाँ पत्र का लक्षण बतलाना भी आवश्यक है । क्योंकि जब तक पत्र का स्वरूप न जान लिया जाय तब तक उसका अवलम्बन विजय प्रदान नहीं करा सकता । इसके अतिरिक्त पत्र का स्वरूप जाने बिना प्रतिपक्षी के पत्र का भेदन भी नहीं किया जा सकता । इस कारण पत्र का स्वरूप कहते हैं -१

-अपूर्ण समाप्त-

१-खेद है कि इसके आगे का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । जहाँ तक ज्ञात है, यह भी नहीं मालूम हो सका कि यह रचना ही अपूर्ण रह गई या पूर्ण उपलब्ध नहीं हो रही है । इसी ग्रंथ की पूर्व पीठिका में आचार्य ने लिखा है-'पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः' अर्थात् आचार्य ने पाँच अध्यायों में इस शास्त्र की रचना की । उस पर से ऐसा आभास होता है कि संभवतः इसके मूलसूत्र तो पूरे पाँच अध्यायों में रचे गये हों । टीका के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

समाप्त.

१ प्रमाणमीमांसायाः सूत्रपाठः ।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥१॥
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥२॥
स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥३॥
ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥४।
अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः।५।
विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥६॥
अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ॥७॥
प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥८॥
प्रमाणं द्विधा ॥९॥
प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥१०॥
व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥११॥
भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥
विशदः प्रत्यक्षम ॥१३॥
प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ॥१४॥
तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥
प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः १६
बाधकाभावाच्च ॥१७॥
तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥१८॥
विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः।१९।
इद्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ॥२०॥
स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणींद्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥२१॥
द्रव्येंद्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥२२॥
भावेंद्रियं लब्ध्युपयोगौ ॥२३॥
सर्वार्थग्रहणं मनः ॥२४॥
नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ॥२५॥
अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः २६
अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥२७॥
ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥२८॥
स्मृतिहेतुर्धारणा ॥२९॥
प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ३०
अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥३१॥
तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः ॥३२॥
पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥३३॥
फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥
कर्मस्था क्रिया ॥३५॥
कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥
तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥
अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥
अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥३९॥
हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥
प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥
स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ।४२।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

अविशदः परोक्षम् ॥१॥
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः२
वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ३।
दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥
उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् उहः ॥५॥
व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥६॥
साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥
तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥८॥
स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥९॥

सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१०॥

ऊहात् तन्निश्चयः ॥११॥

स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम् ॥१२॥

सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः१३

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधाः ॥१४॥

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥१९॥

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ॥२१॥

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम् ॥१॥

वचनमुपचारात् ॥२॥

तद् द्वेधा ॥३॥

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥

नानयोस्तात्पर्ये भेदः ॥५॥

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥८।

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥

बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥१२॥

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतद्भेदः ॥१८॥

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥१९॥

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः ॥२०॥

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः ॥२१॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाणुघटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशाः साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥२४॥

वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका रथ्यापुरुषादयः ॥२५॥

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥२६॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥२७॥

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥

तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः ॥३०॥

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥३२॥

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥३३॥

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥३४॥

नाऽप्यसाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावने ॥३५॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्याध्यायस्य कियन्ति सूत्राणि ।

श्री सुधर्मा मुद्रणालय, पाथर्डी, अहमदनगर